श्री बलभद्र दीक्षित को

भूमिका

प्रेमचन्द का युग समाप्त हो गया है, या समाप्ति पर है। उनकी युग की राजनीति आज बडी तीव्र गति से बदल रही है; पुराने आदर्श कसौटी पर कसे जा रहे हैं और नयी-नयी शक्तियाँ रंगभूमि में आकर नेतृत्व की चेष्टा कर रही हैं। सन् २० और ३० से सन् ४० में बहुत बडा अन्तर है। यह हमारी प्रगति का चिह्न है कि एक-एक दशक मे एक-एक पीढी जैसा परिवर्तन होता दिखाई देता है। राजनीति में युग को समाप्त होते देर भी लगती है क्योंकि जिनके हाथ में अधिकार है, वे उसे कठिनता से छोड़ते हैं, परन्तु साहित्य में पुराने नेताओं में से कुछ तो नये आगन्तुकों का नेतृत्व करने के लिए स्वयं उत्सुक रहते हैं, कुछ अपना कार्य कर चुकने पर

याँ भी पीछे पड़ जाते हैं। प्रेमचन्द के युग को देखते हुए हम कह सकते हैं कि क्या राजनीति में क्या साहित्य में, उस समय उन्हीं का व्यक्तित्व सबसे अधिक क्रान्तिकारी था।

प्रेमचन्द का युग यथार्थवाद का युग नहीं था; वह युग आदर्शवाद और रोमांटिसिज़्म का था। कविता में पंत, प्रसाद और निराला उस युग के प्रतिनिधि थे; राजनीति में महात्मा गान्धी और उनकी कांग्रेस। प्रेमचन्द पर उनके युग के आदर्शवाद की पूरी-पूरी छाप पड़ी थी परन्तु परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थीं जिनमें रहकर पूर्ण-रूप से आदर्शवादी बनना उनके लिए संभव न था। कविता में उन्हीं की भाँति श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं जो रामभक्त, वैष्णव और घोर अहिंसावादी होते हुए भी कहीं-कहीं परिस्थितियों से ऐसे प्रभावित हुए हैं कि अच्छे-अच्छे प्रगतिशीलों के कान काटते हैं। किसी भी साहित्यिक की महत्ता निश्चित् करने में उसके युग का भी ध्यान रखना चाहिये। जब हम प्रेमचन्द के युग की राजनीतिक और साहित्यिक शिथिलता का विचार करते हैं तो उनकी महत्ता हमारी दृष्टि में दुगनी हो जाती है।

प्रेमचंद एक आदर्शवादी युग में पैदा हुए थे, परंतु इस प्रकार के युग में उत्पन्न हुए किसी भी साहित्यिक से उनका स्थान नीचा नहीं। रूसी क्रांति के पूर्व का युग बहुत कुछ भारतवर्ष जैसा था, परंतु वहाँ की राजनीति में यहाँ से अधिक प्रगति थी। वहाँ पर

किसान मजूरों का एक दृढ आंदोलन चल रहा था जब कि यहाँ सुधारवादी कांग्रेस खद्दर और चर्खे को लेकर खेल कर रही थी। रूस की परिस्थितियों ने गोर्की, टाल्सटाय और डॉस्टायवस्की को पैदा किया। अनेक दृष्टियों से ये महान् लेखक अपने युग से पिछड़े थे। गोर्की में आवारापन अत्यधिक था और वर्ग संघर्ष की उसे पूरी-पूरी जानकारी न थी। उसने अपनी डायरी में अपनी आवारा प्रवृत्तियों का मार्मिक वर्णन किया है। अपने रोमांटिकपन के कारण वह क्रांति के पश्चात् भी क्रांति के पूर्व के ही पुराने चित्र बनाता रहा। प्रेमचंद अपने युग के साथ थे और अपने युग की उथल-पुथल को उन्होंने अपनी रचनाओं में चित्रित किया है। टॉल्सटाय पर ईसाई धर्म का अत्यधिक प्रभाव था। यद्यपि उसने रूसी पादरियों का विरोध किया था फिर भी उसकी व्यापक धार्मिकता उसके क्रांतिकारी बनने में बाधक रही। वह जीवन के अंत तक बहुत कुछ सत्य के प्रयोग करता रहा और आध्यात्मिक विकास उसका प्रधान लक्ष्य रहा। महात्मा गांधी ने उसे यों ही अपना गुरु नहीं माना है। इसके विपरीत प्रेमचंद ने धर्म को एक सामाजिक रूप दिया है; तटस्थ रहकर सामाजिक परिस्थितियों में उलझे हुए मनुष्य के धार्मिक विचारों को बनते-बिगड़ते दिखाया है। डॉस्टायवस्की ने हत्यारों, विक्षिप्तों, अस्वस्थ मानसिक दशा के व्यक्तियों का चित्रण किया है। इस युग में 'साइको अनैलिसिस' के विकास के साथ

उसकी काफी पूछ रही है। रूसी लेखकों में वह सबसे कम क्रांति-कारी है। किसी लेखक को यह कहना कि वह डॉस्टायवस्की है, एक प्रकार से उसकी निंदा करना है।

भारतीय लेखकों में बहुधा शरच्चन्द्र से उनकी तुलना की जाती है। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। शरत् बाबू बंगाल के भद्रलोक और वहाँ की घरेलू समस्याओं का चित्रण करते हैं। उनकी संस्कृति, उनका समाजसुधार, उनकी क्रांति भी भद्रलोक की है। 'पथ के दावेदार' में उन्होंने मध्यवर्ग की क्रांति में अपना विश्वास स्पष्ट कर दिया है। शरत् बाबू के उपन्यासों में एक सी समस्याओं की आवृत्ति हुई है। श्रीकान्त की कहानी उनकी आत्म-कथा कही जाती है; वैसी कथा अन्य उपन्यासों में भी मिलती है। श्रीकान्त की समस्या स्त्री के प्रति आकर्षण-प्रत्याकर्षण की समस्या है। प्रेम स्त्री के पास खींच लाता है परन्तु प्रेम की तृप्ति में कोई निर्बलता बाधक होती है और प्रेमी फिर दूर चला जाता है। यह समस्या उनके और उपन्यासों में भी है। प्रेमचन्द को ऐसी समस्याओं के चित्रण से कोई वास्ता न था; उनका मार्ग ही दूसरा था।

अपने उपन्यासों में उन्होंने सामाजिक संघर्ष के चित्र दिये हैं। प्रेमाश्रम का आधार किसान-ज़मीदार का संघर्ष है; गोदान की समस्या किसान-महाजन की है। कर्मभूमि में अछूत आंदोलन और रंगभूमि में नये उद्योग धंधों से गावों में परिवर्तन का चित्रण किया

गया है। समाज के इतने विभिन्न स्तरों का व्यापक ज्ञान संसार के बहुत कम साहित्यिकों में मिलेगा। प्रेमचंद के विचार बहुत स्पष्ट नहीं थे परंतु उनमें कलाकार की सचाई की कमी न थी। उन्होंने परिस्थितियों को घटा-बढ़ाकर नहीं चित्रित किया; अपने युग की निर्धनता, दासता और पीड़ितों की आर्त वेदना को जैसा उन्होंने अनुभव किया था, वैसा दूसरे ने नहीं। आज के साहित्यिक के विचार बहुत कुछ स्पष्ट हो गये हैं परंतु उसके पास प्रेमचंद का अनुभव नहीं है, उनकी सी सचाई भी कम है। प्रेमचंद की कृतियों का हमारे लिए यह संदेश है कि हम जनता में जाकर रहें और काम करें—अपनी रचनाओं में जनता-जनता कम चिल्लाएँ।

प्रेमचंद ने साहित्य में कितना काम किया है और कहाँ से अपनी साहित्यिकता आरंभ करने से लेखक प्रगतिशील बन सकता है,—कम से कम इतना इस पुस्तक के पढ़ने से स्पष्ट हो जाना चाहिये।

इस पुस्तक के प्रकाशन के साथ सर्वश्री विनोदशंकर व्यास, अमृतलाल नागर, गंगाप्रसाद मिश्र तथा वाचस्पति पाठक के प्रति कृतज्ञता प्रकाश करना मेरा कर्तव्य है जिनसे उसके निर्माण में मुझे अनेक प्रकार की सहायता एवं प्रेरणा मिली है।

सूची

प्रेमचंद

आदर्श और यथार्थ

प्रेमचन्द ने साहित्य की किसी हद तक वही व्याख्या की है जिसे हम भारतीय कहने के आदी हैं। साहित्य का सम्बन्ध किसी ऐसी वस्तु से है जो हमारे ऊपरी इंद्रियज्ञान से परे है, जो अनेकों में व्याप्त होते हुए भी एक और अनन्त है। साहित्य की यह रहस्यात्मक कल्पना भारतीय विचार-धारा की कोई अनोखी देन नहीं है, वह पश्चिम के कलाकारों के लिए ही अद्भुत् और अपूर्व है। फिर भी इस युग में हम उस दृष्टिकोण को भारतीय कहने के आदी हैं और प्रेमचन्द का साहित्य की इस प्रकार की व्याख्या करना उन पर इस युग के, और उसकी भारतीयता के प्रभाव को बताता है। 'हंस' में उन्होंने लिखा था, 'साहित्य उस उद्योग का नाम है, जो आदमी ने आपस के भेद मिटाने और उस मौलिक एकता को व्यक्त करने के लिए किया है, जो इस

ज़ाहिरी भेद की तह में, पृथ्वी के उदर में व्याकुल ज्वाला की भाँति, छिपा हुआ है। जब हम मिथ्या विचारों और भावनाओं में पड़कर असलियत से दूर जा पड़ते हैं, तो साहित्य हमें उस सोते तक पहुँचाता है, जहाँ Reality अपने सच्चे रूप में प्रवाहित हो रही है।' इससे मालूम होता है कि साहित्य का ध्येय, उसे व्यक्त करना नहीं है, जो है, बल्कि उसे, जिसे होना चाहिये। मनुष्य ने आपस में तमाम भेद-भाव कर लिये हैं; साहित्य इन्हीं का चित्र खींचने से सन्तुष्ट नहीं,—वह उनके परे मनुष्य-मात्र की उस एकता का चित्र खींचना चाहता है जो अब भी है, पर छिपी हुई है और जिसे हमारे समाज में व्यक्त होना चाहिये। हमें यथार्थ से मतलब नहीं क्योंकि मनुष्य यथार्थ इन्हीं भेद-भावों को समझ बैठा है; हमें उस सच्चे यथार्थ से मतलब है जो निर्मल निष्पाप इस ऊपरी यथार्थ के नीचे छिपा हुआ है। इस सच्चे यथार्थ को हम आदर्श कह सकते हैं क्योंकि हम उस तक पहुँचना चाहते हैं और व्यक्त रूप में अभी वह हमारे पास नहीं है।

साहित्य के प्रति उनका एक दूसरा दृष्टिकोण भी हमारे सामने आता है जिसे हम विदेशी और पश्चिमी कहने के आदी हैं। इसके अनुसार साहित्य किसी परोक्ष यथार्थ—जो निर्मल, सनातन और अखंड है—को नहीं व्यक्त करता वरन् उसकी सृष्टि ही दो तत्वों के द्वंद्व से होती है जो हमेशा बदलनेवाले हैं। सत्य और असत्य का संघर्ष ही साहित्य है और ये 'सत्य' और 'असत्य' सामाजिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होते हैं,—उनकी कोई स्वतंत्र, अमर सत्ता नहीं है। जैसा उन्होंने लिखा था, 'सत्य और असत्य का संघर्ष रामायण और महाभारत-काल से लेकर बीसवीं सदी तक बराबर चला आता है और जब तक साहित्य की सृष्टि होती रहेगी, यह संघर्ष साहित्य का

मुख्य आधार बना रहेगा।' एक चिरन्तन सत्य में संघर्ष असम्भव है; संघर्ष उनमें होता है जो परिवर्तनशील हैं। इसलिए साहित्य का सम्बन्ध उस यथार्थ से है जिसने मनुष्य को मनुष्य से जुदा कर रखा है और जो बदलनेवाला है। यह जुदा करनेवाली वस्तु आदर्श नहीं है; इसलिए उसे यथार्थ कह सकते हैं। और यहीं से प्रेमचन्द में हम इन दोनों का संघर्ष देख सकते हैं।

साहित्य में जो प्रचलित यथार्थवाद है, उसकी प्रेमचन्द ने अनेक स्थलों पर निन्दा की है और साहित्यिकों को उससे बचने के लिए सचेत किया है। यथार्थवाद मनुष्य की दुर्बलताओं का चित्रण है और इस प्रकार का चित्रण मनुष्य को दुर्बलताओं की ही ओर ले जा सकता है। 'कायाकल्प' में चक्रधर कहता है, 'यह मैं नहीं कहता कि तुमने जो कुछ लिखा है, वह यथार्थ नहीं है। उनकी (इच्छाओं और प्रवृत्तियों की) नग्न यथार्थता ही ने उन्हें इतना घृणित बना दिया है। यथार्थ का रूप अत्यन्त भयंकर होता है, और हम यथार्थ को ही आदर्श मान लें, तो संसार नरक-तुल्य हो जाय।' एक भयकर यथार्थ 'है,' इससे नाहीं नहीं की जा सकती; अपने क्षेत्र में वह भी एक सत्य है। परन्तु साहित्य में तो हम एक आदर्श उपस्थित करते हैं; इस यथार्थ को हम आदर्श कैसे मान सकते हैं! आगे चक्रधर कहता है कि दुर्बलताओं की ओर मनुष्य का मन अपने आप दौड़ता है; उसे उधर दौड़ाने की ज़रूरत नहीं। अगर दुर्बलताओं का चित्रण किया जाय तो उनमें भी सत्य और सुन्दर की खोज की जानी चाहिये। प्रेमचन्द यहाँ एक मनोवैज्ञानिक सत्य के रूप में यह बात मान लेते हैं कि दुर्बलताओं के चित्रण से मनुष्य का मन उनकी ओर खिंचता ही है; इसकी विरोधी बात को कि दुर्बल को देख मनुष्य स्वयं सबल

बनने की चेष्टा करता है, वह एकदम अस्वीकार करते हैं। फिर इसी का क्या सबूत कि दुर्बलताओं में सत्य और सुन्दर को पाकर मनुष्य उस सत्य और सुन्दर को छोड़ दुर्बलताओं की ही ओर अधिक न झुकेगा ? तब तो उसकी आत्मा को संतोष होगा कि दुर्बलताओं के होते हुए भी कुछ अच्छाइयाँ उन्हीं के साथ लिपटी हुई उनके अन्दर मौजूद हैं। साहित्य का ध्येय मनुष्य का पतन न होकर उत्थान ही है ; एक ऐसा साहित्य भी हो सकता है जो नग्न यथार्थ का चित्रण करते हुए भी मनुष्य के उत्थान के लिए हो,—इसकी ओर अभी प्रेमचन्द ध्यान नहीं देते।

प्रेमचंद को यथार्थवाद से इसीलिए भय है कि वह भयंकर है और मनुष्य को पतन की ओर ले जानेवाला है। उनका यह दृढ़ विश्वास, कि मनुष्य कमज़ोरियों का पुतला है और उसकी कमज़ोरियों का चित्रण उसके लिए घातक हो सकता है, उनके आदर्शवादी दृष्टिकोण का मूल कारण है। यदि हम किसी आदमी को उठाना चाहते हैं तो हमें चाहिये कि हम यह दिखावें कि वह कितना ऊपर उठ सकता है न कि वह कितना नीचे गिर सकता है या गिर चुका है। स्वभावतः जब हम साहित्य को कटु अनुभव के क्षेत्र से खींच ले जायेंगे तो वह एक प्रकार का काल्पनिक स्वर्ग बन जायगा जहाँ हमारे संग्राम-भीरु हृदय को सांत्वना मिलेगी। यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि प्रेमचंद ने इस काल्पनिक स्वर्ग की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। वह कहते हैं, 'मानव-स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल, क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त

को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले—वह भूल जाय कि मैं चिन्ताओं के बंधन में पड़ा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबक़ा है, जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर, ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों?' काल्पनिक स्वर्ग के निर्माताओं की यह पुरानी दलील है कि मनुष्य साहित्य या कला में यथार्थ की पुनरावृत्ति नहीं देखना चाहता। इससे उल्टा दूसरा सिद्धांत है कि मनुष्य स्वभावतः साहित्य में यथार्थ की नक़ल करना चाहता है;—कुछ लोग तो कला की सृष्टि ही इस प्रवृत्ति से मानते हैं। दूर जाने की ज़रूरत नहीं; स्वयं प्रेमचन्द ने लिखा है, 'कला दीखती तो यथार्थ है; पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो।' इससे मालूम होता है कि कला यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करती है परन्तु वह एक काल्पनिक स्वर्ग की रचना नहीं करती। यदि मनुष्य साहित्य में यथार्थ की पुनरावृत्ति नहीं चाहता, तो फिर यथार्थ का यह भ्रम खड़ा करने की क्या ज़रूरत है? यथार्थ से भागनेवाले के लिए जैसे यथार्थ वैसे उसका भ्रम,—बल्कि भ्रम से शायद उसे ज्यादा भय हो क्योंकि जीवित मनुष्य से मनुष्य का भूत ज्यादा भयकारी होता है।

वास्तव में कल्पनावादियों को यथार्थ के चित्रण से जो चिढ़ है वह इसलिए नहीं कि कला में उसकी पुनरावृत्ति मनुष्य को भाती नहीं बल्कि इसलिए कि यथार्थ का सामना करने का उनमें साहस नहीं। शायद कोई कल्पनावादी इस बात को ईमानदारी के साथ स्वीकार न करेगा क्योंकि इससे उसकी कमजोरी साबित होती है; परन्तु प्रेमचन्द के

संघर्ष में कल्पनावाद के विरोधी तत्व ने उनसे इस कमजोरी को साहस के साथ स्वीकार कराया है। वह मानते हैं कि यथार्थ इतना कटु है कि हमें निराशा से बचने के लिए एक काल्पनिक स्वर्ग रचने की जरूरत होती ही है। 'यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थ-वाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है।'

इस निराशावाद से बचने के लिए आदर्शवाद की ज़रूरत पड़ती है। वास्तव में यथार्थ से भागने पर निराशा का रंग और गहरा ही हो जाता है; काल्पनिक स्वर्ग मे दुबकने की आशा टिकाऊ नहीं होती। आशा तो संघर्ष से ही उत्पन्न होती है, जब हम लड़ते रहते हैं और आशा करते हैं कि आगे विजयी भी होंगे।

यहाँ पर आदर्शवाद को साहित्य में लाने के लिए प्रेमचंद यथार्थवाद की सहायता भी ज़रूरी समझते हैं लेकिन सिर्फ इसी हद तक कि पढ़नेवाला भुलावे में आ जाय और यह न जानने पाये कि लेखक सरासर झूठ बोलकर उसका मन बहला रहा है। इस आदर्श-वाद और यथार्थवाद के सम्मिश्रण को वह 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहते हैं जो हमें स्टैलिन के समय के कुछ रूसी साहित्यिक आन्दोलन की याद दिलाता है जिनमें आदर्शवाद के साथ फिर समझौता किया गया है। लेखक मनुष्य की कमजोरियों का चित्रण करे लेकिन हमेशा यह दिखावे कि उसने उनपर विजय पाई है। साहित्यकार हमारे भीतर

सद्भावनाओं का संचार करे, इसके लिए 'ज़रूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकायें ; बल्कि उनको परास्त करें ; जो वासनाओं के पंजे में न फँसे ; बल्कि, उनका दमन करें ; जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजयनाद करते हुए निकलें।' इस तरह यथार्थ की भयंकरता से प्रेमचंद समझौता करते हैं ; भयंकर होने पर भी जब यह दिखाया जायगा कि आदर्शवाद उसकी गर्दन पर सवार है तो लोगों का भय दूर हो जायगा और वे आदर्शवाद पर श्रद्धा करने लगेंगे।

एक तरह से प्रेमचंद ने यथार्थवाद को मनुष्य की कमज़ोरियों का पर्य्यायवाची मान लिया है। लेकिन यथार्थ में सच्चे साधु पुरुष भी तो होते हैं जिनके अन्दर कमज़ोरियों से अधिक शहज़ोरियाँ होती हैं! अपनी ही व्याख्या से जैसे चिढ़कर वह पूछते हैं, 'क्या यथार्थता अपने क्षेत्र में समाज और व्यक्ति की पवित्र साधनाओं को नहीं ले सकती? एक विधवा के पतित जीवन की अपेक्षा, क्या उसके सेवामय, तपमय जीवन का चित्रण मंगलकारी नहीं है?' यह यथार्थ से दूसरा समझौता है ; यथार्थ के भीतर आदर्श से जो कुछ मिलता जुलता है, उसे हम लेने के लिए तैयार हैं। लेकिन आगे चलकर वह साहित्य में असुन्दर को भी लेने के लिए तैयार हैं, इस शर्त पर कि सुन्दर की सुन्दरता बिगड़ने न पाये। यह वही पहले की बात है कि आदर्श को हमेशा यथार्थ की गर्दन पर सवार रखा जाय। असुन्दर के सहयोग से सुन्दर और भी चमक उठता है। 'साहित्य में असुन्दर का प्रवेश केवल इसलिए होना चाहिये कि सुन्दर को और भी सुन्दर बनाया जा सके।' यथार्थवाद का ऊँट आदर्शवाद के तम्बू में थोड़ी और गर्दन ढकेलता है। यथार्थवाद की नम्रता तो

भयंकर होती है लेकिन उसकी ओर यदि संकेत भर कर दिया जाय तो एक नया ही सौंदर्य पैदा हो जाता है। 'कला संयम और संकेत में है। वही बात जो संकेतों और रहस्यों में आकर कविता बन जाती है, अपने स्पष्ट या नग्नरूप में वीभत्स हो जाती है।...ऊषा की लाली में जो सौन्दर्य है, वह सूरज के सम्पूर्ण प्रकाश में हर्गिज़ नहीं।' लेकिन ज़िंदा रहने के लिए ऊषा का प्रकाश ही काफी नहीं : हमें सूर्य के पूर्ण प्रकाश की भी ज़रूरत होती है। और कला का ध्येय जब तक मनुष्य का कल्याण है तब तक वह गुलाबी संकेतों से सन्तुष्ट नहीं रह सकती।

सुन्दर और असुन्दर का भेद तो वास्तव में मनुष्य के दृष्टिकोण पर निर्भर है। खोजनेवाले के लिए 'वीभत्स में सुन्दर और सत्य मौजूद है।' आगे चलकर इस वीभत्स का चित्रण ही कला का लक्ष्य बन जाता है। अपने आदर्शवादी रूप को लक्ष्य कर प्रेमचन्द कहते हैं, 'उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौंदर्य का अस्तित्व संभव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौंदर्य सुन्दर स्त्री में है,—उस बच्चोंवाली गरीब रूपरहित स्त्री में नहीं जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है; उसने निश्चय कर लिया है कि रँगे होठों, कपोलों और भौंहों में निस्सन्देह सुन्दरता का वास है,—उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियों पड़े हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों में सौंदर्य का प्रवेश कहाँ?' लेकिन जीवन में इसी ग़रीबी और भोंड़ेपन से हम परेशान रहते हैं; साहित्य में उसकी पुनरावृत्ति देखकर हम चिढ़ेंगे नहीं? क्या उससे हमारा मनोरंजन सम्भव है? जो मेहनत करते हैं उनके गाल सूखे हैं, ओठों पर पपड़ियाँ पड़ी हैं और जो उनकी कमाई से महल में बैठे मौज करते हैं उनके गालों

और ओठों पर रंगीनी है,—क्या यह चित्र हमें निराश न बना देगा ! क्या साहित्यकार को यह न दिखाना चाहिये कि मेहनत करने पर रंगीनी इन ग़रीबों के ही चेहरे पर है और महल में आराम करनेवाली के गाल सूख गये हैं ! क्या आदर्शवाद की रक्षा ऐसे ही चित्रण से न होगी और आदर्शवादी दृष्टिकोण से क्या उन्नति भी इसी मार्ग से सम्भव नहीं है ! आदर्शवादी की उन्नति वास्तव में अवनति है ; यथार्थ से भागकर काल्पनिक स्वर्ग में शरण लेनेवाले आशावाद का ज़ोरों से खंडन करते हुए प्रेमचंद कहते हैं, 'उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है जिससे हममें दृढ़ता और कर्मशक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुःखावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अन्त-र्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गये, और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।' साहित्य का यह लक्ष्य मान्य और हमारी चेष्टाओं को अपनी ओर केंद्रित करने योग्य है। साथ ही वह प्रेमचंद के आदर्श और यथार्थ के संघर्ष को भी भली भाँति स्पष्ट कर देता है।

आदर्श और यथार्थ के संघर्ष से मिलता-जुलता हृदय और मस्तिष्क तथा कला और उपयोगिता का झगड़ा है। प्रेमचंद बुद्धिवाद से साहित्य को वैसे ही बचाना चाहते हैं जैसे उसे यथार्थवाद से। इसका कारण भी बहुत कुछ वही पुराना भय है कि बुद्धिवाद उन्हें संसार के कटु सत्यों का सामना करने के लिए बाध्य करेगा। वह कहते हैं, 'सच पूछिये तो कला और साहित्य बुद्धिवाद के लिए उपयुक्त ही नहीं। साहित्य तो भावुकता की वस्तु है, बुद्धिवाद की यहाँ इतनी ही ज़रूरत है कि भावुकता बेलगाम होकर दौड़ने न पाये।' साहित्य में भावुकता एक बहुत सस्ती चीज़ है जिसका अभाव ही आजकल

साहित्य को ऊँचा बनाता है। जो चीज़ मीठी-मीठी दिल को लुभाने-वाली लिखी जाती है उसे बचकानी कहकर हम टाल देते हैं। लेकिन प्रेमचंद का मतलब इस सस्ती भावुकता से नहीं। वे भावुकता के अंतर्गत मनुष्य की उन सभी प्रवृत्तियों को लेते हैं जो व्यक्तिगत स्वार्थ से रहित पूरी समाज के हित के लिए हैं। भावुकता की श्रेष्ठता दिखाने को वह एक विचित्र उदाहरण देते हैं। मान लीजिये एक स्त्री को कुछ लंपटों ने घेर लिया और आप अकेले उसकी रक्षा नहीं कर सकते। यहाँ बुद्धिवाद कहेगा, अकेले पाँच से कैसे जीतोगे, चलो भाग चलो। लेकिन भावुकता कहेगी, एक स्त्री की रक्षा करना तुम्हारा धर्म है ; चाहे प्राण चले जायँ, लेकिन उसे इन दुष्टों के हाथ से बचाना होगा। ऐसी परिस्थिति मे भावुकता मनुष्यता है ; बुद्धिवाद वहाँ कायरता बन जाता है। प्रेमचंद भावुकता का संबन्ध हृदय से मानते हैं। और मनुष्य के हृदय में सत्कर्म की प्रेरणा स्वभावतः मौजूद है। इसलिए जब वह भावुकता का सहारा लेगा तो अवश्य सत्कर्म की ओर प्रेरित होगा। वास्तव में यदि वीरता का भाव हृदय से उत्पन्न होता है तो वहीं से कायरता के भाव की भी उत्पत्ति माननी होगी। एक ही के लिए हृदय उत्तरदायी नहीं हो सकता। ऊपर के उदाहरण के विपरीत हमारे सामने बैरगिया नाला के ठगों की कथा है ; वहाँ भावकता से कथिक दुःसाहसी न हुए वरन् बुद्धि से काम लेकर एक-एक पर तीन-तीन मिलकर वार करने लगे और इस तरह से बुद्धि द्वारा विजयी हुए। प्रेमचंद को बुद्धिवाद से इसलिए भय नहीं है कि वह कायरता है वरन् इसलिए कि वह उनके आदर्शवाद की भावुक कल्पना को ढहा देता है।

जब साहित्य हृदय की वस्तु हो जाती है तो उसका ध्येय भी

आनन्द उत्पन्न करना रह जाता है। साहित्य से रस की सृष्टि, उसका ध्येय आनन्द मात्र होना, प्रेमचन्द की 'भारतीयता' का प्रमाण है। विदेश में भी रोमांटिक कवियों ने साहित्य का ध्येय आनन्द माना है और जब उपयोगितावादियों से संघर्ष हुआ है तो उन्होंने आनन्द की ही उपयोगिता सिद्ध की है। साहित्य का आनन्द ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है और उसे सत्कार्यों की ओर प्रेरित करता है। इसका एक उदाहरण शेली की 'डिफ़ेन्स ऑव पोएज़ी' में है। एक जगह प्रेमचन्द कहते हैं कि सत्य से मनुष्य का तीन प्रकार का सम्बन्ध होता है। एक जिज्ञासा का, जो दर्शन का विषय है; दूसरा प्रयोजन का, जो विज्ञान का विषय है और तीसरा आनन्द का जो साहित्य का विषय है। सत्य की उपयोगिता, इस तरह विज्ञान का विषय बन जाती है। जहाँ साहित्य मे प्रयोजन होगा, वहाँ वह उतना ही वैज्ञानिक और भावुकता से रहित होगा। उसका सम्बन्ध हृदय से न होकर मस्तिष्क से जुड़ जायगा। परन्तु बाद में वह इसी आनन्द में उपयोगिता की भी खोज करते हैं। उपयोगिता का प्रश्न जब एक रोमांटिक को बुरी तरह झकझोरता है तब वह आनन्द को ही उपयोगी सिद्ध करने की चेष्टा करता है। उसी तरह प्रेमचन्द भी कहते हैं, 'मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीज़ों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्संदेह कला का उद्देश्य सौंदर्य-वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है; पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है और दुःख भी।...प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है और जिन भावों,

अनुभूतियों और विचारों से हमें आनन्द मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला से सौंदर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।' बात वही पुरानी है; आनन्द हममें आगे बढ़ने और विकसित होने की क्षमता उत्पन्न करता है। मनुष्य को कर्म के लिए प्रेरणा हृदय से मिलती है; आनन्द इस प्रेरणा-केन्द्र को ही प्रभावित करता है और इसीलिए मनुष्य में सत्प्रेरणाओं का भी जन्म होता है। उदाहरण के लिए तुलसीदास की रामायण का आनन्द ले एक व्यक्ति राजनीति के समर में कूद सकता है क्योंकि साहित्यिक आनन्द उसके अन्दर दूसरों के दुख समझने की क्षमता और उन्हें दूर करने का साहस उत्पन्न करता है।'

साहित्य का मुख्य ध्येय अब भी आनन्द उत्पन्न करना ही है—उपयोगिता उसी के साथ गौण रूप से आती है। लेकिन साहित्य के प्रति जैसे प्रेमचन्द का दृष्टिकोण आदर्शवादी ही न रह यथार्थवादी भी हुआ, वैसे ही उपयोगिता आनन्द के क्षेत्र में गौणरूप से समाई न रही वरन् उसने ही प्रमुखता ले ली और आनन्द गौण बन बैठा। साहित्य की सृष्टि के लिए वह आनन्द की भावना को नहीं, वरन् उपयोगिता की भावना को उत्तरदायी बताते हैं। 'साहित्य का जन्म उपयोगिता की भावना का ऋणी है। जो चतुर कलाकार है, वह उपयोगिता को गुप्त रखने में सफल होता है, जो इतना चतुर नहीं है, वह उपदेशक बन जाता है और अपनी हँसी उड़वाता है।' साहित्य में उपयोगिता छिपाई जाती है तो इसीलिए कि साहित्य अधिक उपयोगी हो सके। उपयोगिता अपने निरावरण रूप में लोगों को चौंका देगी। इसलिए उसे आनन्द के वस्त्र पहनाना ज़रूरी है। फिर जैसे यथार्थ और जीवन के संघर्ष को प्रेमचन्द ने ज़ोरदार शब्दों में साहित्य का ध्येय घोषित किया था।

वैसे ही वह साहित्य की सिद्धि आनन्द नहीं, उपयोगिता के सूत्र से करते हैं। वह कहते हैं, 'मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कला उपयोगिता के सामने घुटना टेकती है। प्रोपेगेंडा बदनाम शब्द है, लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्धक साहित्य प्रोपेगेंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिये और इस तरह के प्रोपेगेंडा के लिए साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नहीं रचा।' आख़िर पलड़ा ही उलट गया। यही नहीं कि साहित्य का ध्येय प्रचार है, अपितु प्रचार का वह सर्वश्रेष्ठ साधन भी है।

ऊपर दिये गये उद्धरणों से प्रेमचन्द का संघर्ष भलीभाँति समझ में आ जाना चाहिये। एक ओर उनमें बीते युग की आदर्शवादी भावना है जो ठीक-ठीक बुद्धिवादी दृष्टिकोण से यथार्थ का सामना करने से हिचकती है; दूसरी ओर उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण है जो सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर तीव्र प्रकाश डाल उसकी वीभत्स नग्नता को हमारे सामने ला खड़ा करता है। इसी कारण वह पुराने युग की विचारधारा से प्रभावित होते हुए भी नये युग के साथ हैं; उनकी गिनती उन लेखकों में है जो एक युग की भावना को अपने भीतर केन्द्रित कर दूसरे युग के लिए मार्ग प्रशस्त कर जाते हैं। अपने आदर्शवाद के कारण कहीं-कहीं वह समस्याओं का उचित निराकरण नहीं कर पाते; उनकी भावुकता उन्हें एक कल्पित समझौता ढूँढ़ निकालने के लिए बाध्य करती है। कहीं-कहीं समस्याओं को उनकी पूरी जटिलता के साथ वह पेश भी नहीं करते। परन्तु यह दूसरा दोष, जो आदर्शवादी लेखकों की ख़ास कमज़ोरी है, प्रेमचन्द पर सबसे कम आरोपित किया जा सकता है। वास्तव में उनका आदर्शवाद उनकी बुद्धि का परिणाम था,—बुद्धिवाद

का एक परिवर्तित रूप। जिस बुद्धिवाद से उन्हें भय था, और जिससे वह साहित्य की रक्षा करना चाहते थे, वही आदर्शवाद के विकृत रूप में उनकी रचनाओं में प्रकट हुआ है। उनकी आंतरिक मनोवृत्ति यथार्थवाद की ओर थी। इसका प्रमाण यह है कि अन्य आदर्शवादियों की भाँति उन्होंने एक निश्चित परिणाम की सिद्धि के लिए अपने आधार को ही नहीं तोड़ा-मरोड़ा। उदाहरण के लिए यदि वह किसान और ज़मींदारों में वर्ग-संघर्ष नहीं चाहते थे, वरन् सोचते थे कि उनमें समझौता हो जायगा तो इसीलिए उन्होंने किसानों पर ज़मींदारों के अत्याचारों को कम करके नहीं दिखाया। आर्थिक शोषण का यथार्थ चित्रण, उसकी पूर्ण भयानकता के साथ, उन्होंने किया है। दूसरा आदर्शवादी लेखक अपना निश्चित परिणाम सिद्ध करने के लिए यथार्थ के आधार को ही विकृत कर देता।

प्रेमचंद की रचनाओं में अध्ययन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण यही समस्याएँ हैं। हमारे जीवन का शायद ही कोई पहलू छूटा हो जिसकी गुत्थियों को प्रेमचंद ने सुलझाने की चेष्टा न की हो। हम उनके परिणामों से सहमत न हों, लेकिन नये युक्तिसंगत परिणाम निकालने के लिए यहाँ से अधिक यथार्थ आधार अभी दूसरी जगह न मिलेंगे। प्रेमचंद भारतीय जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों से परिचित थे और उनका सा परिचय हमें अन्य किसी भी भारतीय साहित्यिक की कृतियों में नहीं मिलता। नये प्रगतिशील लेखक साहित्य में अपने मार्क्सवादी सिद्धांत प्रतिपादित कर रहे हैं लेकिन जितना सुबोध उनके लिए समस्या का परिणाम है, उतनी समस्या नहीं। सामाजिक और राजनीतिक जीवन के विभिन्न अंगों से अभी उन्हें वह परिचय नहीं प्राप्त हुआ जो प्रेमचद की कृतियों में मिलता है। इसीलिए यथार्थवाद का एक

विशिष्ट आवरण पहने हुए भी ये नये लेखक वास्तव में प्रेमचंद से अधिक आदर्शवादी हैं। प्रेमचंद ने हमारे जीवन की समस्याओं की छानबीन की है—जीवन की कटुता का सामना किया है; इस लिए निराशावादी न होकर जब वह हमारे सामने एक आदर्श रखते हैं, तब रूखे से रूखे आलोचक के निकट भी उनका आदर्शवाद क्षम्य हो जाता है। नये लेखकों को प्रेमचंद से सीखना है कि जीवन के कितने अंगों का विस्तृत ज्ञान उन्हें प्राप्त करना है और परिणाम नहीं तो, कम से कम समस्या को किस प्रकार यथार्थवादी ढंग से साहित्य मे पेश करना चाहिये। क्योंकि प्रेमचंद का आदर्शवाद उनकी कृतियों के एक ही पहलू को बिगाड़ता है, वह है समस्या से एक सुंदर परिणाम निकालनेवाला। परन्तु उनके अंतर में बसा हुआ यथार्थवादी समस्या की जटिलता चित्रित करने में बहुत कम मेल-मुलाहिजा करता है। जहाँ उनका आदर्शवाद दब गया है और उन्होंने बरबस परिणाम ढूँढने का प्रयत्न नहीं किया, या समस्या को ही सामने रखकर संतोष कर लिया है, वहाँ वे अद्वितीय हैं।

समाज के जिन-जिन अंगों पर प्रेमचंद ने प्रकाश डाला है, उनका अध्ययन करना अपने सारे सामाजिक जीवन का ही अध्ययन करना है। उनकी कृतियों की विवेचना से हम समस्याओं से ही परिचित न होंगे वरन् परिणाम खोजने में उनकी अतार्किकता और आदर्शवादी दृष्टिकोण को समझकर आगे के लिए सचेत भी हो सकेंगे। प्रेमचंद ने भारतीय जीवन का जो विश्लेषण किया है, आगे उसी की आलोचना की जायगी।

महाजनी सभ्यता

'हंस' के एक लेख में आज की सभ्यता का विश्लेषण करते हुए प्रेमचन्द ने उसे 'महाजनी सभ्यता' कहा था। इस युग के पहले जागीरदारी सभ्यता थी, जिसमें अनेक दोष होते हुए काफ़ी गुण भी थे। बलवान् भुजाएँ और मज़बूत कलेजा तब जीवन की आवश्यकताओं में थे। "राजा और सम्राट् जनसाधारण को अपने स्वार्थ-साधन और धन-शोषण की भट्टी का ईंधन न समझते थे। लेकिन नई सभ्यता में पैसे का स्थान सर्वोपरि है। साम्राज्यवाद के आवश्यक गुण मज़बूत कलेजा और बलवान् भुजाएँ नहीं हैं, उसके लिए, बुद्धि का धन-सञ्चय के लिए उपयोग तथा मौन आज्ञा-पालन आवश्यक हैं। इस सभ्यता ने समाज को दो अंगों में बाँट दिया है, जिनमें एक हड़पनेवाला है, दूसरा हड़पा जानेवाला। इस महाजनी सभ्यता का अन्त हुआ है केवल रूस देश में

और जो समाज-व्यवस्था उस देश के लिए हितकर हुई है, वह हिन्दुस्तान के लिए भी हो सकती है।"

इस लेख से साफ़ मालूम होता है कि जागीरदारी सभ्यता के प्रति प्रेमचन्द के हृदय में थोड़ा-बहुत स्नेह बाक़ी है; वह स्नेह उस पुरानी सभ्यता के ध्वंस के वर्णन में, उसके रहे-उहे स्मारक, कुछ उदार जमींदारों-ताल्लुक़दारों और बिगड़े रईसों के चित्रण में हमें देखने को मिलता है। यहाँ पर उनका दृष्टिकोण एक ठेठ किसान का है, जो स्वभावतः नये युग के शोषण से व्याकुल होकर पिछले युग के सुख-स्वप्न देखता है। और, यह केवल कल्पना नहीं। प्रेमचन्द ने गाँवों में रहकर देखा था कि पुरानी सभ्यता में पला ज़मींदार उतना भयंकर नहीं होता, जितना कि वर्तमान सभ्यता के सम्पर्क में आया हुआ उसी का दूसरा जातिभाई। 'प्रेमाश्रम' में प्रभाशकर और उनके स्वर्गीय भाई इसी पुरानी जागीरदारी सभ्यता के ज़मीदार थे; राय कमलानन्द और ज्ञानशंकर नई सभ्यता के सम्पर्क में आये हुए नई श्रेणी के जमींदार हैं। वर्ग-संघर्ष तो पहले भी था; परन्तु तब देवता के आसन पर पैसे को न प्रतिष्ठित किया गया था, इसलिए शोषण इतना कटु न था। आज सामाजिक व्यवस्था बदल गई है; जागीरदारी सभ्यता का प्रायः अन्त हो चुका है। नई सभ्यता ने व्यापार को अपना ध्येय बनाया है; प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में आगे बढ़कर दूसरों का सरताज बनना चाहता है। इसीलिए बड़े-बड़े खानदानों में जो अपनी इज़्ज़त का एक विचार लोगों को नंगा नाचने से रोके रहता था, वह अब मिट गया है, उसकी जगह धोखेबाज़ी ने ले ली है। लोग कोशिश यह करते हैं कि इज़्ज़त रहे, चाहे जाय, जेब किसी तरह पैसों से भर जाय। नई सभ्यता के नये बड़े आदमियों से कहीं ज्यादा इज़्ज़त-आबरू का

खयाल गाँव में ग़रीब किसानों को है, जो अपनी काल्पनिक आन के लिए सूद पर रुपये लेते-लेते आखिरकार मिट जाते हैं। परन्तु यही बात जागीरदारी सभ्यता के ध्वंसावशेषों अर्थात् पुराने राजों-रईसों के प्रति हमारे हृदय में सहानुभूति उत्पन्न करती है, ग़रीब किसानों में अन्धविश्वास बन जाती है और हमें उनकी मूर्खता पर दया आने लगती है।

प्रेमचन्द ने आधुनिक सभ्यता को महाजनी सभ्यता के नाम से कुछ रूस या समाजवाद पर दो-चार पुस्तकें पढ़कर न पुकारा था। उन्होंने बहुत पहले अनुभव किया था कि किसी समाज की सभ्यता उसकी भीतरी व्यवस्था पर निर्भर रहती है। यह सन्तोष की बात है कि उन्होंने जिन सामाजिक कुरीतियों की आलोचना की है, उनकी जड़ भी उन्होंने सामाजिक व्यवस्था में ही खोज निकाली है। इसीलिए प्रेमचन्द का विश्लेषण छिछला और सुधारवादी न होकर क्रांतिकारी और सामाजिक व्यवस्था की जड़ पर ही आघात करनेवाला हो जाता है। उन्होंने बहुत पहले 'सेवासदन' में वेश्याओं के बारे में लिखते हुए इस महाजनी सभ्यता पर, जिसके कारण आज का पतित वेश्या-जीवन सम्भव हुआ है, चोटें की थीं। उन्होंने कुँअर अनिरुद्धसिंह के मुँह से कहलाया था—"हमें वेश्याओं को पतित समझने का कोई अधिकार नहीं। यह हमारी परम धृष्टता है। हम रात-दिन जो रिश्वतें लेते हैं, सूद खाते हैं, दीनों का रक्त चूसते हैं, असहायों का गला काटते हैं, कदापि इस योग्य नहीं हैं कि समाज के किसी अंग को नीच या तुच्छ समझें। सबसे नीच हम हैं, सबसे बड़े पापी, दुराचारी, अन्यायी हम हैं, जो अपने को शिक्षित, सभ्य, उदार और उच्च समझते हैं। हमारे शिक्षित भाइयों ही की बदौलत दालमण्डी आबाद है, चौक

में चहल-पहल है, चकलों में रौनक है। यह मीनाबाज़ार हम लोगों ने ही सजाया है, ये चिड़ियाँ हम लोगों ने ही फँसाई हैं, ये कठपुतलियाँ हमने ही बनाई हैं। जिस समाज में अत्याचारी ज़मींदार, रिश्वती राजकर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर और सम्मान के पात्र हों, वहाँ दालमण्डी क्यों न आबाद हो! हराम का धन हरामकारी के सिवा और कहाँ जा सकता है? जिस दिन नज़राना रिश्वत और सूद दर-सूद का अंत होगा, उसी दिन दालमण्डी उजड़ जायगी, ये चिड़ियाँ उड़ जायँगी—पहले नहीं।"

यही महाजनी सभ्यता है, ज़मींदार अत्याचारी हैं, राज-कर्मचारी रिश्वतखोर हैं, महाजन अन्यायी हैं और भाई-भाई का गला काटने के लिए तैयार है। प्रेमचन्द ने महाजनी सभ्यता के इन स्तम्भों को, ज़मींदारों, राजकर्मचारियों और महाजनों को उधेड़-उधेड़कर हमारे सामने उनकी वीभत्सता में खड़ा कर दिया है, जिससे हम अपनी सभ्यता की इमारत ढहाकर उसकी जगह एक नई इमारत बनाने के लिए बाध्य हों।

'कर्मभूमि' में अमरकांत सलीम से जलसे में आने और पश्चिमी सभ्यता पर बोलने को कहता है। सलीम कहता है कि उसे पश्चिमी सभ्यता की बुराइयाँ नहीं मालूम, जिन पर वह बोले। अमरकांत कहता है—"एक तो यह तालीम ही है। जहाँ देखो, वहीं दूकानदारी। अदालत की दूकान, इल्म की दूकान, सेहत की दूकान। इस एक पाइंट पर बहुत कुछ कहा जा सकता है।"

सलीम ने चाहे न कहा हो, पर प्रेमचन्द ने कहने में कोई कसर नहीं रक्खी। स्वाभाविक था कि उनका रोष पश्चिमी शिक्षा पर प्रकट होता। 'कर्मभूमि' के आरम्भ में ही उन्होंने लिखा था—"कचहरियों में

पैसे का राज है, हमारे स्कूलों में भी पैसे का राज है, उससे कहीं कठोर, कहीं निर्दय।...ऐसे कठोर नियमों का उद्देश्य इसके सिवा और क्या हो सकता था कि ग़रीबों के लड़के स्कूल छोड़कर भाग जायँ। वही हृदयहीन दफ़्तरी शासन, जो अन्य विभागों में है, हमारे शिक्षालयों में भी है।..अध्यापकों की मेज़ों पर रुपयों के ढेर लगे हैं। चारों तरफ़ खनाखन की आवाज़ें आ रही हैं। सराफ़े में भी रुपए की ऐसी झंकार कम सुनाई देती है। हरएक मास्टर तहसील का चपरासी बना बैठा हुआ है।...यदि ऐसे शिक्षालयों से पैसे पर जान देनेवाले, पैसे के लिए ग़रीबों का गला काटनेवाले, पैसे के लिए अपनी आत्मा को बेच देनेवाले ..त्र निकलते हैं, तो आश्चर्य ही क्या है ?"

महाजनी सभ्यता को जीवित रखनेवाली यह इस युग की शिक्षा है। यद्यपि प्रेमचन्द ने पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा को बहुधा खरी-खोटी ही सुनाई हैं, फिर भी उनका विरोध उसी शिक्षा से था, जो महाजनी सभ्यता की पोषक है। पश्चिमी शिक्षा का एक रूप हमें प्रेमशंकर में भी देखने को मिलता है, जो 'प्रेमाश्रम' में उनके आदर्श नायक हैं।

यह शिक्षा जब जागीरदारी सभ्यता के वारिसों को मिलती है तो ज्ञानशंकर-से व्यक्तियों का जन्म होता है, जो प्रजा से पैसा खींचने में किसी प्रकार की भी रियायत नहीं कर सकते। ज्ञानशंकर का जन्म उस कुल में हुआ था, जिसने अपने को मर्यादा के पीछे मिटा दिया था। नई शिक्षा ने उन्हें सिखाया था कि जीवन एक संग्राम है और इसमें जो दूसरों पर दया दिखावेगा, वह मिट जायगा। जीवन का अर्थ है दूसरों को मारकर जीवित रहना ; ऐसे संघर्ष में आत्मत्याग और दया के लिए गुंजाइश कहाँ ?

धनीवर्ग के लड़के जब यही शिक्षा पाते हैं तो उनमें 'कर्मभूमि' के सलीम और 'प्रेमाश्रम' के ज्वालासिंह से हुक्काम निकलते हैं। जो हाकिम नहीं बनते, वे डाक्टरी, वकालत आदि करते हैं और ये सभी महाजनी सभ्यता के स्तंभ हैं। मध्यवर्ग के लोग अँगरेज़ी पढ़कर दफ़्तरों में गुलामी करते हैं। 'सेवासदन' में सदनसिंह जब नौकरी खोजने निकलता है, तब उसे अपनी शिक्षा का अभाव खटकता है; साथ ही वह उस शिक्षा का मूल्य भी आँक लेता है—'मेरा चरित्र उच्च न सही, पर बहुतों से अच्छा है। मेरे विचार उच्च न हों, पर ऐसे नीच नहीं। लेकिन मेरे लिए सब दरवाज़े बन्द हैं। मैं या तो कहीं चपरासी हो सकता हूँ या बहुत होगा तो कान्सटेबिल हो जाऊँगा। बस यही मेरी सामर्थ्य है। यह हमारे साथ कितना बड़ा अन्याय है। हम कैसे ही चरित्रवान् हों, कितने ही बुद्धिमान हों, कितने ही विचार-शील हों, पर अँगरेज़ी भाषा का ज्ञान न होने से उसका कुछ मूल्य नहीं। हमसे अधम और कौन होगा, जो इस अन्याय को चुपचाप सहते ही नहीं, बल्कि उस पर गर्व करते हैं।'

इस तरह विदेशी सभ्यता ने महाजनी सभ्यता की जड़ें हमारे समाज में मज़बूती से जमा दी हैं और इसीलिए प्रेमचंद उसका विरोध करते हैं: इसलिए नहीं कि वह विदेशी है। पुरानी सभ्यता अपनी पुरानी सामाजिक सभ्यता के साथ मिट गई है—उसमें कुछ दम नहीं है, बहुत से बहुत उसके लिए सहानुभूति के चार आँसू गिराये जा सकते हैं; परन्तु नई सामाजिक परिस्थितियों के लिए वह बेकार है। नई शिक्षा एक नई सभ्यता को पोषित कर रही है और इस सभ्यता की भित्ति स्वार्थ पर है।

अँगरेज़ों ने आकर हिन्दुस्तान में एक नई शिक्षा फैलाई और

उससे महाजनी सभ्यता की जड़ जमी। साथ ही वे अपने साथ नये उद्योग-धंधे भी लाये, जिन्होंने देशी उत्पादन के साधनों में क्रान्ति कर दी। महाजनी सभ्यता का आधार ही वास्तव में आधुनिक व्यापार है और इस व्यापार का स्वभावतः नये उद्योग धंधों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने यही संघर्ष चित्रित किया है। एक ओर नया व्यापार और नया धंधा है; दूसरी ओर पुरानी सभ्यता और पुराना सामाजिक आदान-प्रदान। इन दोनों के संघर्ष में पड़कर पुराना जीवन छिन्न-भिन्न हो जाता है और एक गाँव का गाँव ध्वस्त हो जाता है, उसके साथ ही शहर के और बहुत-से लोग भी। 'रंगभूमि' में नये व्यापार का विरोध वह उन्हीं कारणों से करते हैं, जिनसे उन्होंने पश्चिमी शिक्षा का विरोध किया था। नया उद्योग और नया व्यापार पुरानी सभ्यता के दोनों अंगों को, किसान और ज़मींदार को, निकम्मा बना देता है। एक मज़दूरी करता है, अपने पुराने बंधनों से अलग होकर पतन के समुद्र में वह चलता है; दूसरा अपनी खानदानी बातें भूलकर कारखानों में हिस्से खरीदता है और पहले से भी अधिक भयंकर शोषक बन जाता है।

जॉन सेवक सूरदास की ज़मीन पर कारखाना बनवाना चाहते हैं। सूरदास उन्हें ज़मीन नहीं देना चाहता। न देने के उसके पास बहुत-से कारण हैं। ज़मीन से कुछ पैतृक प्रेम है; उससे बाप-दादों का नाम चलता है; कुछ अपनी यादगार में वहाँ बनवाकर छोड़ भी जाना चाहता है, लेकिन व्यक्तिगत कारणों के होते हुए भी ज़मीन को न बेचने में वह सामाजिक लाभ भी देखता है। एक तो जब तक वह परती पड़ी है, उसमें गाँव के गोरू चरते हैं; इसके सिवा जब वहाँ कारखाना बन जायगा, और वह भी सिगरेट का, तो गाँव में अनाचार

का ठिकाना न रहेगा। लेकिन जॉन सेवक, जो एक नये व्यापारी, देश के नये पूँजीपतियों के प्रतीक हैं, इन सब दलीलों को कोरी भावुकता समझते हैं। अपने कारखाने की सामाजिक उपयोगिता सिद्ध करने के लिए उनके पास कम तर्क नहीं हैं।—'हमारी जाति का उद्धार कला-कौशल और उद्योग की उन्नति में है। इस सिगरेट के कारखाने से कम से कम एक हजार आदमियों के जीवन की समस्या हल हो जायगी, और खेती के सिर से उनका बोझ टल जायगा। जितनी ज़मीन को एक आदमी अच्छी तरह जोत-बो सकता है, उसमें घरभर का लगा रहना व्यर्थ है। मेरा कारखाना ऐसे बेकारों को अपनी रोटी कमाने का अवसर देगा।'

कुँअर भरतसिंह को सन्देह होता है कि तमाखू की खेती से अनाज महँगा हो जायगा और लोगों के स्वास्थ्य पर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। जॉन सेवक इसका सीधा उत्तर देते हैं—'व्यवसायी लोग इन गोरखधन्धों मे नहीं पड़ते; उनका लक्ष्य केवल वर्तमान परिस्थितियों पर रहता है। हम देखते हैं कि इस देश में विदेश से करोड़ों रुपये के सिगरेट और सिगार आते हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि इस धन-प्रवाह को विदेश जाने से रोकें। इसके बग़ैर हमारा आर्थिक जीवन कभी पनप नहीं सकता।'

आर्थिक जीवन के पनपने का सही-सही मतलब क्या है? जॉन सेवक कुँअर को कारखाने से फ़ायदे का एक सब्ज़ बाग़ दिखाते हैं; पहले ही साल २५) प्रति सैकड़ा मुनाफ़ा होगा। अगर कोई दैवी बाधाएँ पड़ भी गईं तो २०) सैकड़ा तो कहीं गया नहीं है। नतीजा यह होता है कि वही कुँअर साहब, जो तम्बाकू से देश को नुक्सान होने की बात सोच रहे थे, अब एकदम ५०० हिस्से लेने को तैयार हो जाते हैं।

आज के व्यवसाय का यही रूप है ; व्यक्तिगत स्वार्थ के आगे मनुष्य समाज के हानि-लाभ की चिंता नहीं करता। जॉन सेवक की आत्मा भी उन्हें धिक्कारती है, 'तुमने देश की व्यावसायिक उन्नति के लिए नहीं, अपने स्वार्थ के लिए यह प्रयत्न किया है।'

जॉन सेवक का उद्देश्य है, नफ़े का बड़ा भाग किसी न किसी हीले से अपनी जेब के हवाले करना। लेकिन अपने कार्य को उपयोगिता सिद्ध करने के लिए और विरोधियों के तर्क को खण्डित करने के लिए उनके पास भाँति-भाँति के अस्त्र हैं। नायकराम पण्डा को समझाते हैं कि उनके यात्रियों के लिए सड़क के किनारे खपरैल के मकान बनवा दिये जायँगे। बजरंगी अहीर से कहते हैं कि वह हाते में अपनी गायें-भैंसे चरा लिया करेगा। इसके सिवा अभी सारा दूध लेकर उसे शहर जाना पड़ता है ; उस दूध से हलवाई दही, मलाई बनाता है और फ़ायदा उठाता है। कारखाना खुल जाने से उसका दूध अलग बिकेगा, मलाई अलग। उपले घर बैठे बिक जायँगे। ठाकुरदीन पान-वाले की बिक्री चौगुनी हो जायगी। खोंचेवालों और ताड़ीवालों की आमदनी का तो कहना ही क्या ! लड़कों के लिए मदरसा भी खुल जायगा। इस तरह गाँववाले भी ज़मीन देने के लिए राज़ी हो जाते हैं। राजा महेंद्रप्रतापसिंह के आगे जॉन सेवक राष्ट्रीयता का स्वाँग भरते हैं। जब एक बार असफल होते हैं तो दूसरी बार अपने गुमाश्ता ताहिरअली के घर में घुसकर स्त्रियों पर गाँववालों द्वारा अत्याचार किये जाने की कथा गढ़ते हैं। आदि झूठ, अन्त झूठ ; आज की सभ्यता का आधार यही झूठ का व्यापार है।

इस व्यापार में समाज के सभी उच्चवर्गों का स्वार्थ है। वहाँ ग़रीब की सुनवाई नहीं है ; जिनके हाथ में न्याय है, वे भी व्यापारी हैं, वे

अपने भाई-बन्दों के विरुद्ध फ़ैसला नहीं कर सकते। जॉन सेवक सूरदास को यथार्थ का बोध कराते हुए कहते हैं—'अब व्यापार का राज्य है, और जो इस राज्य को स्वीकार न करे, उसके लिए तारों को निशाना मारनेवाली तोपें हैं।'

नतीजा यह होता है कि सूरदास की ज़मीन उससे ले ली जाती है। कारखाना बनाना शुरू होता है और पाँड़ेपुर की शांत बस्ती में मजदूरों के नये वर्ग की सृष्टि होती है। सूरदास इनके बारे में शिकायत करता है—'वे सारी बस्ती में फैले हुए हैं, और रोज़ ऊधम मचाते रहते हैं। हमारे मुहल्ले में किसी ने औरतों को नहीं छेड़ा था, न कभी इतनी चोरियाँ हुईं, न कभी इतने धड़ल्ले से जुआ हुआ, न शराबियों का हुल्लड़ रहा। जब तक मजूर लोग यहाँ काम पर नहीं आ जाते, औरतें घरों से पानी भरने नहीं निकलतीं। रात को इतना हुल्लड़ होता है कि नींद नहीं आती।'

धीरे-धीरे एक दिन वह आता है कि इस शिकायत की गुंजाइश ही नहीं रक्खी जाती। मजूरों के लिए मकानों की ज़रूरत है। पांडेपुर के किसानों से उनके मकान खाली कराये जाते हैं। कहाँ उन्हें मुनाफ़े का स्वप्न दिखाकर लुभाया गया था, कहाँ जॉन सेवक मकान खाली कराने का परवाना लिये पुलिस के साथ उनके सिर पर आ धमकते हैं। लोग मकानों से निकलना नहीं चाहते; सरकारी मुआवज़ा उनके बाप दादों के बनाये घरों की क़ीमत से कहीं कम है। और उस मुआवज़े के रुपये का भी अभी कहीं ठिकाना नहीं। सिपाहियों ने मकानों में घुस-घुसकर लोगों का सामान इधर-उधर फेंकना शुरू किया 'मानो दिनदहाड़े डाका पड़ रहा हो।'

और लोग तो मकान खाली कर देते हैं, लेकिन सूरदास अपनी

झोपड़ी से अलग नहीं होता। जनता उसके चारों ओर इकट्ठी हो जाती है और पुलिस को गोलियाँ चलानी पड़ती हैं, जिसमें कई आदमी शहीद हो जाते हैं। रात में जब सोफ़ी वहाँ पहुँचती है, तब उसे बरसते पानी में रह-रहकर दीवालों के धम-धम गिरने की आवाज़ सुनाई देती है। और इस तरह पुरानी सभ्यता, पुराना रहन-सहन, और गाँवों में रहने-वाले किसानों के पुराने जीवन को भूमिसात् करती हुई नये व्यापार की यह महाजनी सभ्यता हिन्दुस्तान में अपना प्रसार करती है। जॉन सेवक ने झूठ नहीं कहा था—'व्यवसाय कुछ नहीं है, अगर नर-हत्या नहीं है। आदि से अन्त तक मनुष्यों को पशु समझना और उनसे पशुवत् व्यवहार करना इसका मूल सिद्धान्त है। जो यह नहीं कर सकता, वह सफल व्यवसायी नहीं हो सकता।'

जॉन सेवक के भाईबन्द 'गोदान' के चन्द्रप्रकाश खन्ना हैं। उन्होंने शक्कर की मिल खोली है। तमाखू न सही, शक्कर सही, व्यवसाय व्यवसाय है और उसमें मनुष्यता की हत्या होना अवश्यम्भावी है। 'आप नहीं जानते मिस्टर मेहता,' खन्ना कहते हैं—'मैंने अपने सिद्धान्तों की कितनी हत्या की है। कितनी रिश्वतें दी हैं, कितनी रिश्वतें ली हैं। किसानों की ऊख तौलने के लिए कैसे आदमी रक्खे, कैसे नक़ली बाँट रक्खे।'

और तब समाज में लखपती बने। बजट में शक्कर पर ड्यूटी लग गई। मालिकों ने देखा कि मजूरों की मजूरी घटाने का अच्छा मौक़ा है। 'ड्यूटी से अगर पाँच की हानि थी, तो मजूरी घटा देने से दस का लाभ था।'

बेकारी में आदमियों की कमी है नहीं; आधी मजूरी पर तमाम मजूर मिल जायँगे, तब मजूरी में कटती का ऐलान क्यों न कर दिया

जाय। गोदाम में इतना माल है कि छः महीने तक न खपे। उधर मजूरी में कमी का ऐलान हुआ, इधर मजूरों ने हड़ताल कर दी। नतीजा यह हुआ कि नये मजूरों की भर्ती हुई और उनसे पुराने मजूरों से लड़ाई हुई, जिसमें पुरानों की ही हार हुई।

खन्ना अपने को मजूरों का नेता और प्रतिनिधि मानते थे। पिछले राष्ट्रीय आन्दोलन-में उन्होंने भाग लिया था, दो बार जेल तक हो आये थे। हमेशा वह मजूरों की शिकायतें सुनने के लिए तैयार रहते थे, 'लेकिन यह तो नहीं हो सकता कि वह शक्कर-मिल के हिस्सेदारों के हित का विचार न करें।'

हिस्सेदारों को लम्बे मुनाफे का लालच देकर हिस्से खरिदवाये गये थे; अगर उन्हें मुनाफा न हुआ तो वे खन्ना को धोखेबाज़ समझेंगे। खन्ना खुद तनख्वाह कम लेते हैं, सिर्फ़ १०००) महीना। फिर डायरेक्टर और मजूर का कोई मुक़ाबला है! डायरेक्टर बुद्धि से काम लेता है, मजूर अपने हाथों से। मजूरों में भी बुद्धि होती तो समझते कि मन्दी के समय बेकारी बढ़ गई है और अब एक की जगह पौन से भी सन्तुष्ट रहना चाहिये। लेकिन मेहता से उन्हें एक दूसरा ही तर्क सुनने को मिलता है—'क्या आपका विचार है कि मजूरों को इतनी मजूरी दी जाती है कि उसमें चौथाई कम कर देने से मजूरों को कष्ट न होगा? आपके मजूर बिलों में रहते हैं—गन्दे, बदबूदार बिलों में—जहाँ आप एक मिनट भी रह जायँ तो आपको क़ै हो जाय। कपडे जो वह पहनते हैं, उनसे आप अपने जूते भी न पोछेंगे। खाना जो वह खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न खायगा। मैंने उनके जीवन में भाग लिया है। आप उनकी रोटियाँ छीनकर अपने हिस्सेदारों का पेट भरना चाहते हैं।'

महाजनी सभ्यता ने इस नये वर्ग की सृष्टि की है। थोड़ी देर में खन्ना देखते हैं कि मिल में आग लग गई है। 'रंगभूमि' में किसानों के मकान धमाधम पानी में गिर रहे थे; यहाँ ईंटें जल रही थीं, लोहे के गर्डर जल रहे थे और पिघली हुई शकर के परनाले चारों तरफ़ बह रहे थे।

(मिल के जलने से एक फ़ायदा हुआ कि खन्ना और उनकी बीबी में समझौता हो गया।)

नये व्यवसाय ने इस वर्ग-संघर्ष को जन्म दिया है। वर्ग-संघर्ष का मूलकारण धन है और धन के लिए वर्ग के भीतर ही व्यक्तियों के बीच संघर्ष मचा हुआ है। वास्तव में वर्ग की सीमा बना-बिगड़ा करती है और धन को देवता बनाकर पूजने की सभ्यता दोनो ही वर्गों की नसों में व्याप गई है। 'गोदान' में गोबर शहर में मजूरी करने जाता है। पहले महीने मजूरी कर, आधे पेट खाकर थोड़े-से रुपए बचा लेता है। फिर खोंचा लगाता है। गर्मियों में शर्बत और बरफ़ की दूकान खोलता है; जाड़े में चाय बेचता है। घर को एक भी पैसा नहीं भेजता और एक्केवालों, गाड़ीवानों और धोबियों को सूद पर रुपए देता है, महाजनी संगठन में उसने अपने लिए एक छोटा-सा स्थान बना लिया है। समाज की व्यवस्था ही ऐसी है कि उसमें या तो महाजन बनो, या क़र्ज़दार। ईमानदार के लिए उसमें जगह नहीं; या तो यन्त्र से सहयोग करो या उसकी अनिवार्य गति के नीचे पिसने के लिए तैयार हो जाओ।

आज की सभ्यता और सामाजिक व्यवस्था का यह एक रेखाचित्र है। आगे हम देखेंगे कि प्रेमचंद ने प्रत्येक वर्ग का कैसा चित्रण किया है तथा वर्गों के संघर्ष तथा सामाजिक विकास का कैसा विवरण दिया

है। हमारे समाज में नये वर्ग बन रहे हैं, पुराने मिट रहे हैं। इस निर्माण और ध्वंस में जो शक्ति प्रधानतः काम कर रही है उसे हम महाजनी सभ्यता कह सकते हैं।

राजसत्ता के स्तम्भ

समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों में धन और सम्मान की गुरुता के हिसाब से सबसे पहले राजा-महाराजाओं का नंबर आता है जिनके लिए प्रेमचंद ने 'कायाकल्प' में लिखा है कि वे 'अपनी वासनाओं के सिवा और किसी के गुलाम नहीं होते।' 'कायाकल्प' में उन्होंने इस श्रेणी के लोगों का विस्तार के साथ चित्रण किया है। इस उपन्यास का कथानक प्रेमचंद की और रचनाओं की भाँति साफ़-सुथरा नहीं है, कहानी का एक भाग, जिस पर उपन्यास का नाम रखा गया है, पूर्व-जन्म की बातों से भरा हुआ है। फिर भी अधिकांश भाग में राजाओं के जीवन का चित्रण है और उसे चित्रित करते हुए प्रेमचंद ने भरसक उनकी निराली दुनिया की सभी छोटी-बड़ी चीज़ों को पुस्तक में लाने की चेष्टा की है। यह भी संभव है कि वह उपन्यास के इस क्रांतिकारीपन

को छिपाना चाहते हों और इसलिए साथ में पूर्वजन्म की एक मन-गढ़ंत कथा जोड़कर उसका नाम 'कायाकल्प' रख दिया हो।

'कायाकल्प' के प्रधान नायक ठाकुर विशालसिंह को हम पहले-पहल धूप में पत्र पढ़ते हुए देखते हैं। मुख पर तेज झलकता है ; बदन पर काला दुशाला पड़ा हुआ है जिससे गोरा रंग और भी चमक उठा है। यह जगदीशपुर की रानी साहबा के चचेरे देवर हैं। इनके दादा को गुज़ारे-भर के लिए दो-चार गाँव मिल गये थे, लेकिन उनसे मुश्किल से गुज़र बसर होता था। तिसपर दादा ने पाँच हज़ार रुपए कर्ज़ा लिए थे जिसके कि पचास हज़ार हो गये और गाँव नीलाम हो गये। इसी शोक में दादाजी ने, पुत्र को कर्ज़ न लेने का उपदेश देकर, शरीर छोड़ दिया। लेकिन कुल-मर्यादा निभानी ही पडती है। नौकर-चाकर, घोड़ागाड़ी सभी की ज़रूरत पड़ती है। दशहरे और जन्माष्टमी के उत्सव भी होते हैं। इसीलिए विशालसिंह बीमार रानी के मरने की घड़ी जोहा करते और भविष्य में रियासत का इंतज़ाम करने के मंसूबे बाँधा करते हैं।

रानी की दवा करने के लिये वैदजी आते हैं और वैदजी को लाने के लिए गाँव से बेगार में मजूर पकड़ आते हैं। यह देखकर विशाल सिंह का प्रजावाद ज़ोर मारता है। कहते हैं, 'अन्धेर है और कुछ नहीं! पुराने ज़माने में तो खैर सस्ता समय था, जो दो-चार पैसे मज़-दूरों को मिल जाते थे, वही खाने-भर को बहुत थे। आज-कल तो एक आदमी का पेट भरने को एक रुपया चाहिये। यह महा अन्याय है। बेचारी प्रजा तबाह हुई जाती है। आप देखेंगे कि मैं इस प्रथा को क्यों कर जड़ से उठा देता हूँ।' उनके शब्दों का गहरा व्यंग्य तिलकोत्सव के समय जाकर खुलता है। उत्सव की तैयारियों में उन्होंने

राजकर्मचारियों को आज्ञा दी थी कि प्रजा पर ज़रा भी सख्ती न होने पाये और न किसी से बिना मज़दूरी के काम ही कराया जाय। 'प्रजा सहनशील होती है, जब तक प्याला भर न जाय, वह ज़बान नहीं खोलती।' सब लोग जी तोड़कर काम करते रहे, इस आशा में कि उत्सव ख़त्म हो जाने पर चैन से दिन बीतेंगे। राजा साहब ने आज्ञा तो दे दी कि प्रजा से बेगार न ली जाय, लेकिन राजकर्मचारी उनकी आज्ञा मान रहे हैं या नहीं इसकी देख-भाल करने का उनके पास कोई साधन न था।

बेगार तक ही बात रहती, तहाँ तक था लेकिन राजा साहब को आगत राजाओं का स्वागत करना था, अंग्रेज़ हाकिमों की दावत करनी थी; कलकत्ते से थिएटर कपनी और मथुरा से रासलीला-मंडली बुलाई गई थी। रुपये का प्रबन्ध करना था। दीवान साहब ने सलाह दी कि हल पीछे १०) चदा लगा दिया जाय। राजा साहब ने अपने प्रजावाद की रक्षा करते हुए कहा—'इतना खयाल रखिये कि किसी को कष्ट न होने पाये। आप को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि आसामी लोग सहर्ष आकर शरीक हों।' प्रजावाद की रक्षा भी हो गई और तिलक के लिये रुपयों का प्रबन्ध भी हो गया। साँप मरा और लाठी भी न टूटी। परिस्थिति के तीव्र व्यंग्य को प्रकट करने में प्रेमचंद ने कसर नहीं छोड़ी। राजा साहब की दयालुता पर मुंशी वज्रधर ने जो टिप्पणी की, वह अपनी व्यंजना में अद्वितीय है। कहते हैं, 'हुजूर का फरमाना बहुत वाजिब है। अगर हुजूर सख्ती करने लगेंगे, तो उन ग़रीबों के आँसू कौन पोंछेगा। सूरज जलता भी है, रोशनी भी देता है। जलानेवाले हम हैं, रोशनी देनेवाले आप हैं।' राजा के प्रजावाद और कर्मचारियों की प्रभु सेवा को स्पष्ट समझाने के लिए इनसे अधिक उपयुक्त शब्द मिलना कठिन है।

नतीजा यह हुआ कि इलाके में लूट-खसोट शुरू हो गई। पहले गालियाँ, फिर ठोक-पीट, फिर गोरू खोल लेना, फिर खेत काटना और अंत में बेदखली,—रुपये वसूल करने के लिए सभी साधनों का प्रयोग किया जाने लगा। जिसने सीधे से दिया, उसका जल्दी पिंड छूट गया, जिसने नाहीं-नूहीं की, उससे दुगने-तिगुने वसूल किये गये। यहाँ तक कि प्रभुभक्त चक्रधर को एक दिन राजा साहब से शिकायत करनी पड़ी। राजा साहब ने चक्रधर को लताड़ बताई कि जब प्रजा खुद शिकायत नहीं करने आती तो चक्रधर उसकी वकालत करनेवाले कौन होते हैं। चक्रधर ने दलील पेश की कि प्रजा में इतना साहस नहीं है कि राजा तक आये। राजा साहब ने प्रजावत्सलता का परिचय देते हुए कहा,—'आसामी ऐसे बेसींग की गाय नहीं होते। जिसको किसी बात की अखर होती है, वह चुप नहीं बैठा रहता। उसका चुप रहना ही इस बात का प्रमाण है कि उसे अखर नहीं, या है तो बहुत कम।' बात ठीक थी; केवल राजा साहब भूलते थे कि उष्णता-प्रधान इस अहिंसावादी देश के आसामी इस साधारण नियम के अपवाद हैं।

फिर मेहमान आये, हुक्काम आये; धूमधाम से स्वागत हुआ और मजूरों ने और भी जी तोड़कर परिश्रम किया। लेकिन बेगार तो बेगार: काम कराने को सब थे, मजूर खाते भी हैं यह देखनेवाला कोई न था। 'दिनभर धूप में जलते, रातभर क्षुधा की आग में।' एक दिन की बात, पोलो का खेल होनेवाला था; लेकिन चमारों ने घोड़ों के लिए घास ही न पहुँचाई थी। किसी कैंप में घास न थी और ठाकुर हरिसेवक हंटर लिए हुए चमारों को पीट रहे थे। मुंशी वज्रधर की आँखें मारे क्रोध के लाल हो रही थीं। कितना अनर्थ है! सारा दिन गुजर गया और

अभी तक किसी कैंप में बात नहीं पहुँची ! चमारों का यह हौंसला ! ऐसे बदमाशों को गोलीमार देनी चाहिये !' और गोली मारने में कोई कसर नहीं रखी गई। राजा साहब अपनी बंदूक लेकर आ पहुँचे और मुंशी वज्रधर अपनी। साथ में पुलिस के बहादुर भी अपनी बंदूकें लिये आ गये। चक्रधर फिर वकालत करने पहुँचे लेकिन अबकी उत्तर में मिला उन्हें राजा साहब की बंदूक का कुंदा। उनके गिरते ही मजूरों में जान-सी आ गई। पाँच हज़ार आदमियों के रेले को बंदूकों की गोलियाँ भी रोकने में असमर्थ हुईं। अंग्रेजी कैंप से चलनेवाली गोलियों ने बहुत आदमी मारे गये लेकिन अंग्रेजों की जान तभी बची जब चक्रधर ने आकर अपने अहिंसावाद से मजूरों को शांत किया। और बाद में इसके लिए उन्हें जेल जाना पड़ा। चक्रधर के चेताने पर भी विशालसिंह का राजतिलक प्रजा के रक्त से ही हुआ।

जिस शासन का श्रीगणेश इस तरह रुधिर के टीके से हुआ हो, उसका मध्य और अवसान कैसा होगा, यह भली-भाँति सोचा जा सकता है। सारा वातावरण ही ऐसा है कि उसमें विशालसिंह की तो बिसात क्या, भले से भला आदमी भी शासन-मद से उन्मत्त हो जाता है। प्रेमचंद की यह सहृदयता है कि उन्होंने सामाजिक विशृङ्खलताओं के लिए व्यक्ति विशेष-को उत्तरदायी न रखकर किसी व्यवस्था की ही कड़ी आलोचना की है। जब हम वातावरण में हम चक्रधर सरीखे लोकोपकारक जीव का दम घुटते हुए देखते हैं तब हम विशालसिंह या उनके साथियों से घृणा न कर अपना ध्यान उस व्यवस्था की ओर ले जाते हैं जो उनके निकम्मेपन के लिए उत्तरदायी है। चक्रधर के पिता मुन्शी वज्रधर राज्य के सच्चे सेवकों में हैं लेकिन लड़का अंग्रेज़ी पढ़-लिखकर नालायक निकल गया। देश-सुधार की

धुन उसे सवार हो गई और वह राज्य में आंदोलन खड़ा करने लगा। चक्रधर ने मजूरों का पक्ष ले बंदूक का कुंदा खाया और फिर वह जेल गये। जेल में कैदियों ने विद्रोह किया और अहिंसावादी चक्रधर ने दारोगा की जान बचाते एक विद्रोही की संगीन का वार अपने कंधे पर लिया। इससे वह कैदियों के लिए भगवान का अवतार हो गये। लेकिन जेल से छूटने पर राजा विशालशिह की रानी मनोरमा—चक्रधर की प्रेमी—उसे चक्रधर की प्रेमिका कहना उचित न होगा—और स्वयं राजा साहब आदि ने चक्रधर का स्वागत किया और अहल्या राजा विशाल-सिह की खोई हुई लड़की निकली। इसलिए चक्रधर का लड़का शंखधर राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। चक्रधर के राज्य से बंधन और दृढ़ हुए और धीरे-धीरे वातावरण ने उनकी श्वास को विषाक्त करना आरंभ कर दिया। प्रेमचंद ने उनके अंतर्द्वंद्व और पराजय का सुन्दर चित्रण किया है। 'वास्तव में यहाँ का जीवन उनके लिए असह्य हो गया था। वह फिर भी अपनी शांति-कुटीर को लौट जाना चाहते थे। यहाँ आये दिन कोई न कोई बात हो जाती थी, जो दिनभर उनके चित्त को व्यग्र रखने को काफी होती थी। कहीं कर्मचारियों में जूती पैजार होती थी, कहीं ग़रीब आसामियों पर डाँट-फटकार, कहीं रनिवास में रगड़-झगड़ होती थी, तो कहीं हल्के में दगा फिसाद। उन्हें स्वयं कभी-कभी कर्म-चारियों की तंबीह करनी पड़ती थी, कई वार उन्हें विवश होकर नौकरों को मारना भी पड़ा था। सबसे कठिन समस्या यही थी कि यहाँ उनके पुराने सिद्धान्त भंग होते चले जाते थे। वह बहुत चेष्टा करते थे कि मुँह से एक भी अशिष्ट शब्द न निकले; पर प्रायः नित्य ही ऐसे अवसर आ पड़ते कि उन्हें विवश होकर दंडनीति का आश्रय लेना पड़ता था।'

एक दिन ऐसी घटना हुई कि चक्रधर को अपने पूरे पतन का भान हुआ। मोटर पर हवा खाने निकले थे ; रास्ते में एक साँड़ खड़ा मिला। बहुत हटाने की कोशिश की लेकिन वह न हटा। तब मोटर से उतरकर उसे स्वयं हटाने चले। उसने इनका पीछा किया और एक पेड़ की डाल पर चढ़कर चक्रधर को अपनी जान बचानी पड़ी। इसके बाद साँड़ ने मोटर की दुर्गति करनी शुरू की। मोटर तोड़-फोड़कर वह एक ओर को चलता हुआ। तब चक्रधर पेड़ से उतरे और नज़दीक के एक गाँव की ओर चले। रात हो गई थी ; चक्रधर ने लोगों से कहा कि वे उनकी मोटर उठवाकर ले चलें। एक किसान ने तर्क किया कि मोटर शाम को तो चलेगी नहीं ; सवेरे वे लोग उसे उठवाकर रखवा आवेंगे। लेकिन चक्रधर युवराज के पिता—एक पुरवे में रात बितावें, यह विचार मात्र उन्हें अपना अपमान जान पड़ा। कहा—'कैसी बातें करते हो जी ! मैं रात-भर यहाँ पड़ा रहूँगा ! तुम लोगों को इसी वक्त चलना होगा।' किसान उन्हें पहचानता तो था नहीं ; उसने भी ठकुरई के रोब में कहा—'साहब, इस बखत तो हमारा जाना न होगा। अगर बेगार चाहते हों, तो वह उत्तर की ओर दूसरा गाँव है, वहीं चले जाइये। बहुत चमार मिल जायँगे।' बात आगे बढ़ी और चक्रधर उस किसान पर टूट पड़े। पहले ही धक्के में वह नीचे आ गिरा। इतने ही में सामने के मकान से एक आदमी निकला और इन्हें देखकर बोला—'अरे भगतजी ! तुमने यह भेष कब से धारन किया। मुझे पहचानते हो ? हम भी तुम्हारे साथ जेहल में थे।' इस नये आदमी के कामरेडपन ने चक्रधर पर घड़ों पानी डाल दिया। युवराज के पिता के हृदय में वह जेल की याद दबे काँटे की भाँति खटक उठी। धन्नासिंह ने बताया—'यह आदमी जिसे आप

ठोकरें मार रहे हैं, मेरा सगा भाई है। खाना खा रहा था। खाना छोड़कर जब तक उठा तब तक तो तुम गरमा ही गये। तुम्हारा मिजाज इतना कड़ा कब से हो गया? जेहल में तो तुम दया और धरम के देवता बने हुए थे। क्या वह दिखावा ही दिखावा था? निकला तो था कुछ और ही सोचकर; मगर तुम अपने पुराने साथी निकले। कहाँ तो दरोगा को बचाने के लिए अपनी छाती पर संगीन रोक ली थी, कहाँ आज ज़रा सी बात पर इतने तेज पड़ गये।'

धन्नासिंह की बात में एक भी शब्द जोड़ने की ज़रूरत नहीं। चक्रधर के परिवर्तन को वह भली-भाँति प्रकट करता है। लेकिन प्रेमचन्द इस व्यंग्य को निर्दयतापूर्वक अन्त तक निबाहते हैं; तीर को हृदय में बिंधा न छोड़कर उसे पार कर देते हैं जिससे शंका समाधान-वाली बात न रहे। धन्नासिंह भाई को पकड़कर बिठाने लगा तो वह हाथ उखड़ जाने की पीड़ा से कराह उठा। धन्नासिंह ने समझा हाथ टूट गया। क्रोध में बोला—'अपने द्वार पर आये हो और कुछ पुरानी बातों का खयाल है, नहीं इस समय क्रोध तो ऐसा आ रहा है कि इस तरह तुम्हारे हाथ भी तोड़ दूँ। यह तुम इतने बदल कैसे गये। अगर आँखों से न देखता होता, तो मुझे कभी विश्वास न आता। ज़रूर तुम्हें कोई ओहदा या जायदाद मिल गई है; मगर यह न समझो कि हम अनाथ हैं। अभी जाकर महाराज के द्वार पर फ़रियाद करें, तो तुम खड़े-खड़े बँध जाओ। बाबू चक्रधरसिंह का नाम तो तुमने सुना ही होगा। अब किसी सरकारी भाइयों की मजाल नहीं कि बेगार ले सके, तुम बेचारे किस गिनती में हो। ओहदा पाकर अपने दिन भूल न जाना चाहिये। तुम्हें मैं अपना गुरु और देवता समझता था। तुम्हारे ही उपदेश से मेरी वह पुरानी आदतें छूट गईं। गाँजा

और चरस तभी से छोड़ दिया, जुए के नगीच नहीं जाता, जिस लाठी से सैकड़ों सिर फोड़ डाले होंगे, वह अब टूटी पड़ी है। मुझे तो तुमने यह उपदेश दिया और आप लगे ग़रीबों को कुचलने।...' धन्नासिंह चक्रधर के नाम से परिचित न था : जेल का भगत जी ही वह उन्हें समझता था। चक्रधर में इतने सद्गुण थे कि अनजाने में उनके नाम की दुहाई देकर वह उन्हीं को फटकार रहा था। उन सद्गुणों के प्रकाश में चक्रधर का पतन और भी वीभत्स हो उठा है और पतन का कारण, वह वातावरण, अपने विषैलेपन में उतना ही प्राणघातक प्रतीत होता है।

यह पतन एकांगी नहीं है। जब गाँववालों को पता चलता है कि यही चक्रधर हैं, तब उनकी मानसिक प्रतिक्रिया देखनेवाली होती है। साथ ही प्रेमचंद की सूक्ष्मदर्शिता भी। धन्नासिंह ने कहा—'मैंने तो पहचाना ही नहीं। क्रोध में न-जाने क्या-क्या बक गया।' दूसरे ठाकुर ने कहा—'सरकार अपने को खोल देते, तो हम मोटर को कंधों पर लादकर ले चलते। हजूर के लिए जान हाजिर है। मन्नासिंह मरदे आदमी, हाथ झटक कर उठ खड़े हो, तुम्हारे तो भाग्य खुल गये।' मन्नासिंह ने मुसकिराते हुए कहा—'सरकार देखने में तो दुबले-पतले हैं; पर आप के हाथ-पाँव लोहे के हैं। मैंने सरकार से भिड़ना चाहा : पर आपने एक ही अड़ङ्गे में मुझे दे पटका।' इस सीमा तक दासता, इन ठाकुरों की हड्डियों में रस गई है। युवराज के पिता की ठोकरें क़बूल हैं, ठोकरों की कठोरता की सराहना के साथ मनुष्य की साधारणता का उन्होंने विरोध किया था, उसकी असाधारणता का नहीं। गाँव के वही आदमी आकर चक्रधर को नज़रें देने लगे। वातावरण में पीड़ित और पीड़क दोनों ही की श्वास दूषित है। 'अपमान को निगल जाना चरित्र-पतन की अंतिम सीमा है।'

राजा अपनी वासनाओं को छोड़ और किसी के गुलाम नहीं होते। इसलिए विशालसिंह और उनके आस-पास के वातावरण का चित्रण बिना उनकी रानियों के वर्णन के अधूरा ही रहेगा। विशालसिंह के पिता उन पर कर्ज छोड़कर मरे थे, खर्च चलाना उनके लिए कठिन था। फिर भी शायद राज्य मिलने की आशा से उनके तीन ब्याह हो चुके थे। राज्य मिलने पर उन्होंने सचमुच ही एक ब्याह और किया। सबसे बड़ी रानी वसुमती अन्य दो रानियों पर बहुओं की भाँति शासन करना चाहती थीं; लेकिन वे बहुएँ नहीं सपत्नी थीं। दूसरी रामप्रिया, जितना कोमल अंग, उतने ही कोमल हृदयवाली थी, एकांत में पुस्तक पढ़कर समय बिताया करती थीं। तीसरी रोहिणी 'द्वेष को पालती थी, जैसे चिड़िया अपने अण्डे को सेती है। वह जितना मुंह से कहती थी, उससे कहीं अधिक मन में रखती थी।' वसुमती विशालसिंह के पुरुषत्व को ललकार कर कहती है—'ऐसे ही न्यायशील होते, तो सन्तान का मुँह देखने को न तरसते। विशालसिंह अधिकतर रोहिणी से प्रेम करते। जन्माष्टमी के दिन कुछ झगड़ा हो गया। वसुमती से सुलह हो गई। फिर भी वसुमती विशालशिंह पर लांछन लगाने से न चूकी, 'आदमी में सब ऐब हो, मेहरवस न हो। ऐसी कोई बड़ी सुन्दरी भी तो नहीं है। रोहिणी को वश में करने की तरकीब भी वसुमती ने बताई। 'जैसे घोड़ा पैदल और सवार पहचानता है, उसी तरह औरत भी मकुए और मर्द को पहचानती है।' 'जिसने सच्चा आसन जमाया और लगाम कड़ी रक्खी, उसकी जय है। जिसने रास ढीली कर दी, उसकी कुशल नहीं।' लेकिन विशालसिंह में रास कड़ी करने का साहस नहीं था। रोहिणी घर से निकलकर चलने को तैयार हो गई। विशालसिंह और चक्रधर में कुछ बातचीत हुई और चक्रधर जाकर रानी को मना लाये। विशाल-

सिंह ने इतना कहा—'मेरा क्रोध बहुत बुरा है। अगर आप न पहुँच जाते, तो बड़ी मुश्किल पड़ती। जान पर खेल जानेवाली स्त्री है। आपका एहसान कभी न भूलूँगा।'

लेकिन वसुमती ने फिर भी उन्हें स्पष्ट शब्दों में ललकारा! 'तुम्हें तो ईश्वर ने नाहक मूँछें दे दीं। औरत होते तो किसी भले आदमी का घर बसता। जाँघ तले की स्त्री सामने से निकल गई और तुम टुकुर-टुकुर ताकते रहे।' विशालसिंह के पौरुष की सिद्धि के लिए रानी वसुमती के प्रमाणपत्र अकाट्य हैं। स्वाभाविक था कि जब राज्य मिलने का संवाद मिला तब मुसाहबों ने खुशी मनाना शुरू किया लेकिन 'सारी बरात हँसती थी। दूल्हा रोता था।'

फिर भी तीन की चार रानियाँ हुईं। विशालसिंह के जीवन में उनके रंगमहल में मनोरमा भी आई, परन्तु उनकी मनोवाञ्छा फिर भी पूरी न हुई। उनका उत्तराधिकारी चक्रधर का पुत्र शंखधर ही हुआ जिसकी अंत में उन्हीं के सामने मृत्यु हो गई।

विशालसिंह की कथा के साथ रानी देवप्रिया का चित्र है जो पुनर्जन्म के गोरखधंधे के होते हुए भी एक वर्ग विशेष के गर्हित जीवन पर काफ़ी प्रकाश डालता है।

जगदीशपुर की रानी देवप्रिया यद्यपि वृद्ध हो गई थीं फिर भी उनकी काम-चेष्टाएँ और भी तीव्र हो उठी थीं। दान-पुण्य करती थीं जिसका उद्देश्य भी विलास था ; रस, औषधियाँ, पाउडर, उबटन आदि गई जवानी को लाने के लिए व्यवहार में लाये जाते थे। उनकी कामुकता का दंड प्रजा को भोगना पड़ता था क्योंकि जिस वातावरण में वह पली थीं, वह उसे भड़काने में विशेष सहायक था। 'रियासत उनके भोगविलास का साधन मात्र थी, प्रजा को क्या कष्ट होता है,

उस पर कैसे-कैसे अत्याचार होते हैं, सूद के घूरे की विपत्ति क्योंकर उनका सर्वनाश कर देती हैं, इन बातों की ओर कभी उनका ध्यान न जाता था। उन्हें जिस समय जितने धन की जरूरत हो, उतना तुरंत देना मैनेजर का काम था। वह ऋण लेकर दे, चोरी करे, या प्रजा का गला काटे, इससे उन्हें कोई प्रयोजन न था।' बात कितनी सच है यह छोटी-मोटी रियासतों पर प्रकाशित कुछ रिपोर्टें ही पढ़ने से पता लग सकता है (जैसे पटियाला या उड़ीसा की रियासतों पर प्रकाशित रिपोर्टों से)।

रानी साहबा का अब सबसे प्रिय विनोद यह था कि वह युवक और युवतियों के साथ प्रेम क्रीड़ा करें। युवकों के साथ उनकी प्रेम-क्रीड़ा कितनी वीभत्स होती होगी, यह दिखाने के लिए जैसे प्रेमचंद ने उन्हें युवती मनोरमा में ही पुरुष कल्पना करता हुआ दिखाया है। 'अच्छा समझ ले, तू पुरुष है, देख मैं तेरी ओर कैसे ताकती हूँ। सिर उठाकर मेरी ओर देख, कहती हूँ सिर उठा, नहीं मैं चुटकी काट लूँगी।' और इसके बाद रानी ने भृकुटिविलास और लोचनकटाक्ष का ऐसा कौशल दिखाया कि मनोरमा का अज्ञात मन भी एक क्षण के लिए चचल हो उठा। इस नारी की लालसा यदि जन्म-जन्मान्तर भी अतृप्त रहे तो क्या आश्चर्य ? मानो उस लालसा की अस्वस्थ तीव्रता को व्यक्त करने के लिए ही प्रेमचंद ने उसके प्रेमी को बार-बार जन्माया है और यह नारी उस युवा को बार-बार ग्रस लेती है, अन्तिम बार जब वह शंखधर के रूप में पैदा होता है।

इसी तरह का तालुकदारी, जमींदारी और राजाओं का विषाक्त वातावरण प्रेमचंद ने रगभूमि में उपस्थित किया है। उसके पात्रों में कुँअर भरतसिंह का 'महाजनी सभ्यता' में जिक्र आ चुका है। एक देशसेवक संस्था चलाते हुए भी वह तमाखू के कारखाने के ५०० हिस्से

लेने से नहीं चूकते। बाद को उन्हीं की सम्मति जब देशसेवा के पथ पर राजभक्ति की सीमा के बाहर जाती हुई मालूम होती है तब वह रियासत को कोर्ट ऑव वार्ड्स कर देते हैं जिससे विनय की उच्छृङ्खलता से उस पर कोई आँच न आवे।

कुछ और गहरी स्याही में चित्रित उनके दामाद चतारी के राजा महेन्द्रप्रतापसिंह हैं। रानी जाह्नवी सोफी को बताती हैं, तीन साल पहले इनका सा विलासी शहर में न था ; लेकिन अब वह सादा जीवन बिताते हैं। वह म्यूनिसिपैलिटी के प्रधान हैं। उनकी प्रवृत्ति साम्यवाद की ओर है। इसके दो कारण हो सकते हैं, एक तो किन्हीं विशेष राजनीतिक सिद्धान्तों में उनका विश्वास या दूसरा जैसा कि शहर के और रईस कहते, उनका जनतावाद उनकी अधिकार रक्षा का साधन है। सम्मान की लालसा उनमें थी और उसकी तृप्ति के लिए वह यह बाना बनाये हुए थे। इन्हीं से जॉन सेवक ने सूरदास की ज़मीन दिलाने का वादा करा लिया यद्यपि राजा साहब जानते थे कि यह सरासर अन्याय है। उनके जनवाद को रंग लाने में देर न लगी। जॉन सेवक ने अपना मतलब साधने के लिए एक झूठी दंगे की खबर गढ़कर उन्हें सुना दी। महेन्द्रप्रताप की सहानुभूति स्वभावतः अपने भाई पूँजीपति के लिये जाग उठी। सूरदास के लिए कहा—'मुझे तो वह बहुत ही ग़रीब, सीधा-सा आदमी मालूम होता है ; मगर है छँटा हुआ। उसी की दीनता पर तरस खाकर मैंने निश्चय किया था कि आपके लिए कोई दूसरी ज़मीन तलाश करूँ। लेकिन जब उन लोगों ने शरारत पर कमर बाँधी है, और आपको ज़बरदस्ती वहाँ से हटाना चाहते हैं, तो इसका उन्हें अवश्य दण्ड मिलेगा।' राजा साहब जानते थे कि जॉन सेवक झूठ बोलते हैं लेकिन जिस आदमी की ज़मीन छिनने को

थी, वह अंधा होकर भी दंगा करे, इस बात की जाँच करनी ही थी। कल्पित दंगे का हाल सुन देश की अशांति पर ही उन्होंने फ़तवा दे डाला। जाति-भाई के आगे उन्हें निरावरण होने में लाज न थी। 'यों मैं स्वयं जनवादी हूँ, और उस नीति का हृदय से समर्थन करता हूँ, पर जनवाद के नाम पर देश में जो अशांति फैली है, उसका मैं घोर विरोधी हूँ। ऐसे जनवाद से तो धनवाद, एकवाद, सभी वाद अच्छे हैं।' मतलब यह कि जनता को अपनी माँगें पेश करनी हैं तो वह राजा महेंद्रप्रताप को अपना प्रतिनिधि चुने, उनके सामने फरियाद करे; उसे अशांत होने का अधिकार नहीं है। ऐसे जनवाद से जिसमें उनके प्रतिनिधित्व के लिए जगह न हो, धनवाद ही भला जिसमें वह राजा तो रहेंगे! मालूम होता है, उनसे ईर्ष्या रखनेवाले जो रईस उन पर अधिकार-प्रियता का दोष लगाते थे, वे उनकी नस खूब पहचानते थे। बाद में अपनी रानी इंदू को किसी भी जन-आन्दोलन में भाग लेने से रोकने के लिए वह उस पर कठोर से कठोर शासन करने में नहीं चूकते। इंदु अपने मन में सोचती है--'ईश्वर ने इन्हें सब कुछ दिया है, यह हाकिमों से क्यों इतना दबते हैं, क्यों इतनी ठकुर-सुहाती करते हैं, अपने सिद्धांतों पर स्थिर क्यों नहीं रहते, उन्हें क्यों स्वार्थ के नीचे रखते हैं, जाति-सेवा का स्वाँग क्यों भरते हैं? वह भी कोई आदमी है, जिसने मानापमान के पीछे धर्म और न्याय का बलिदान कर दिया हो!' एक बात इंदु रानी की समझ में न आई थी, यह कि ईश्वर ने जो 'सब कुछ' राजा महेंद्रप्रताप को दिया था, उसमें हाकिमों का भी साझा था; उसे बनाये रखने के लिए हाकिमों के आगे खीस निपोरना और जनता के आगे साम्यवादी बनना ज़रूरी था यह उसी जागीरदारी सभ्यता के ध्वंसावशेष हैं। बात को स्पष्ट करने के

लिए प्रेमचंद इंदु से कहलाते हैं—'एक वे यशोद्धा थे, जो बादशाहों के सामने सिर न झुकाते थे, अपने वचन पर, अपनी मर्यादा पर मर मिटते थे। आखिर लोग इन्हें (महेन्द्रप्रताप को) क्या कहते होंगे ! संसार को धोका देना आसान नहीं। इन्हें चाहे भ्रम हो कि लोग मुझे जाति का सच्चा भक्त समझते हैं; पर यथार्थ में सभी पहचानते हैं। सब मन में कहते होंगे, कितना बना हुआ आदमी है। लेकिन महेंद्र-प्रताप का क्या दोष ! वह बनें नहीं तो न जाने कितनी बातें बिगड़ जायँ, मान-मर्यादा, राज-पाट उनके पास कुछ न रह जाय, आदमी एक ही नाव पर चल सकता है। निःस्वार्थ देशसेवा की या स्वार्थपूर्ण शासन की। जहाँ दोनों के उपर चलने का वह अभिनय करता है वहाँ वह लोगों को धोका देकर अपना स्वार्थ ही साधता है।'

एक दूसरे राजा की झाँकी हमें राजपूताने में मिलती है जब विनयसिंह विद्रोहियों को छुड़ाने के लिए राजा के पास प्रार्थी होकर जाते हैं। शिलविसह से विपरीत यह राजा साधुचरित्र और पूजा-पाठ में विश्वास करनेवाले हैं। एक ओर वह राजा में ईश्वरीय सत्ता का डंका पीटते हैं, 'राजों से भी कहीं भूल होती है ! शिव-शिव ! राजा तो ईश्वर का अवतार है। हरि-हरि ! वह एक बार जो कर देता है, उसे फिर नहीं मिटा सकता।'—दूसरी ओर उन्हें रेज़िडेंट का इतना भय है कि कहते हैं, 'हमारी दशा साधारण अपराधियों से भी गई-बीती है। उन्हें तो सफाई देने का अवसर दिया जाता है, न्यायालय में उन पर कोई धारा लगाई जाती है, और उसी धारा के अनुसार उन्हें दंड दिया जाता है। हम से कौन सफाई लेता है। हमारे लिए कौन-सा न्यायालय है।' ईश्वर राजा का अवतार अवश्य है परन्तु ईश्वर से भी बढ़कर एक सत्ता है, वह है ब्रिटिश शासन। बिना इस सत्ता के राजा साहब का अवतार-

वाद झूठा हो जायगा। उस सत्ता के प्रतीक रेज़िडेंट से वह भी भय खाते हैं। इसीलिए दीवान साहब ने विनय से एकान्त विश्वास में कहा था—'रियासतों को आप सरकार की महलसरा समझिये, जहाँ सूर्य के प्रकाश का भी गुज़र नहीं हो सकता। हम सब इस हरमसरा के हब्शी ख्वाजा-सरा हैं। हम किसी की प्रेम-रस-पूर्ण दृष्टि को इधर उठने न देंगे, कोई मनचला जवान इधर क़दम रखने का साहस नहीं कर सकता।' इस हरामसरा में कहने को उसका स्वामी, राजा एक पुरुष है; वास्तव में हरमसरा में बादशाह नहीं बेगम का वास है और उसका प्रेमी रेज़ीडेंट के रूप में अंग्रेज़ सरकार है। महल के अन्दर अपनी मर्जाद बनाये रखने के लिये बेगम उसे भाँति-भाँति से लुभाने को अभिनय किया करती है। इसीलिए तो विनय ने देखा कि शहर में सड़कें, पाठशालाएँ, चिकित्सालय,—'सबों के नाम अँगरेज़ी थे। यहाँ तक कि एक पार्क मिला, वह भी किसी अँगरेज़ एजेंट के नाम से संस्कृत था। ऐसा जान पड़ता था, कोई भारतीय नगर नहीं, अँगरेज़ों का शिविर है।' जब इन बेगम साहबा के प्रेमी आते हैं तब इनकी परेशानी देखते ही बनती है। उनकी परेशानी देखकर विनय को भी घृणा हो गई; 'इतना नैतिक पतन, इतनी कायरता, यों राज्य करने से डूब मरना अच्छा है।'

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर वातावरण की प्रतिक्रियाएँ दर्शाने में प्रेमचन्द यहाँ भी नहीं चूके। एक ओर विनयसिंह हैं, अपने राज-संस्कारों को लिये हुए, जिन्होंने कुछ अपनी शिक्षा के कारण, कुछ अपनी माता के दबाव से, सेवा का व्रत लिया है; दूसरी ओर वीरपालसिंह हैं, साधारण जनसमुदाय में से एक व्यक्ति जो शासन की निरंकुशता से त्रस्त होकर आतंकवादी हो गया

है। जैसे इस वातावरण में बीच के सीधे मार्ग के लिए कोई सुविधा ही नहीं। या तो प्रजा पर गोली चलाओ या प्रजा की ओर से रक्त का बदला रक्त से लो; तीसरा मार्ग केवल यह है, गोली खाकर मर जाओ। वीरपाल ने विनय को बताया, वह क्यों डाकू हो गया था। वह अपने गाँव का मुखिया था। गाँव में एक युवती विधवा हो गई थी। इलाक़ेदार ने उसे देखा तो उसे घर से निकाल ले जाने का प्रयत्न करने लगा। एक रात इलाक़ेदार के आदमी उसके घर में घुस गये परन्तु वीरपालसिंह को पता लग गया और वह भी अपने आदमी लेकर पहुँच गया। फल यह हुआ कि उसने इलाक़ेदार के आदमियों को मार भगाया। इलाक़ेदार तब से उसका शत्रु हो गया। उसपर चोरी का मुकदमा चलाकर उसे कैद करा दिया। वीरपालसिंह का विद्रोह देख विनय के सभी परम्परा से आते संस्कार जाग उठते हैं। बीते हुए गौरव का स्वप्न उनके हृदय को गुदगुदा देता है। 'इस राज्य को हम लोगों ने सदैव गौरव की दृष्टि से देखा है, और महाराजा साहब को आज भी हम उसी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वह उन्हीं साँगा और प्रताप के वंशज हैं, जिन्होंने हिंदू जाति की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी थी। हम महाराजा को अपना रक्षक, अपना हितैषी, क्षत्रिय कुल-तिलक समझते हैं। उनके कर्मचारी सब हमारे भाई-बन्द हैं।' इस गत-गौरव के स्वप्न ने वर्तमान अन्यायों के प्रति उनकी दृष्टि धुँधली कर दी है। वह भूल गये हैं कि महाराज हिंदुओं की रक्षा भी कर रहे हैं या नहीं; इन्हीं के राजकर्मचारियों में से एक ने, जिन्हें वह अपना भाई-बंद कहते हैं, एक अबला विधवा पर बलात्कार करना चाहा था। 'वे हमारे साथ अन्याय भी करें, तो भी हम ज़बान न खोलेंगे। राज्य पर दोषारोपण करके हम अपने को उस महान् वस्तु

के अयोग्य सिद्ध करते हैं, जो हमारे जीवन का लक्ष्य और इष्ट है।' वह अपने ही शब्दों को भूल गये, 'यों राज्य करने से तो डूब मरना अच्छा है।'

अवसर आते ही विनय को बदलते देर न लगी। पीढ़ियों का नसों में जमा विष अनुकूल वातावरण पाते ही पिघल उठा। धीरे-धीरे जसवंत नगर को कथित विद्रोहियों से पाक करने में विनय ने सहायता दी: विद्रोहियों से पाक होने का अर्थ यह कि 'वहाँ कोई जवान आदमी न रहा।' जैसा कायाकल्प में चक्रधर का पतन, वैसे ही रंगभूमि में विनय का पतन, रियासत के सर्वनाशी वातावरण का द्योतक है। रेज़िडेंट 'दौरे पर निकलते, तो एक अँगरेज़ी रिसाला साथ ले लेते, और इलाके-के-इलाके उजड़वा देते, गाँव-के-गाँव तबाह करवा देते। यहाँ तक कि स्त्रियों पर भी अत्याचार होता था। और सबसे अधिक खेद की बात यह थी कि "रियासत और क्लार्क के इन सारे दुष्कृत्यों में विनय भी मनसा, वाचा, कर्मणा सहयोग करते थे। विद्रोहियों के दमन में कोई पुलिस का कर्मचारी, रियासत का कोई नौकर इतना हृदयहीन, विचारहीन, न्यायहीन न बन सकता था!' विगत गौरव का स्वप्न, राजा साँगा का वंशजत्व, अंत में उन्हें इस सीमा तक खींच लाया। 'कायाकल्प' की ही भाँति व्यंग्य द्वारा प्रेमचन्द ने विनय को अपने पतन का बोध भी करा दिया है। एक बुढ़िया का लड़का विद्रोही कहकर जेल भेज दिया गया था। सोफी के पास से लौटते विनय की इस बुढ़िया की भेंट होती है। विनय को न पहचान वह अपने भीख माँगने की कथा कहती है। 'बेटा धूप में मुझसे चला नहीं जाता, सिर में चक्कर आ जाता है। नई नई विपत है भैया, भगवान् उस अधम पापी विनयसिंह का बुरा

करे उसी के कारण बुढ़ापे में यह दिन देखना पड़ा...न जाने उस कलमुँहे ने कब का बैर निकाला।' एक पण्डित पूजा-पाठ में लगे मिले। यह भी दमन के शिकार हुए थे। विनय का नाम लेना भी पाप समझते हैं। 'उसका नाम भी न लूँगा। किसी बड़े रईस का लड़का है। काशी से दीनों की सहायता करने आया था। सैकड़ों घर उजाड़कर न जाने कहाँ चल दिया।...पुरश्चरण का पाठ कर रहा हूँ। जिस दिन सुनूँगा कि उस हत्यारे पर देवी ने कोप किया, उसी दिन मेरी तपस्या पूरी हो जायगी।' विनय पर यह कलंक जैसे उनकी मृत्यु से भी नहीं धुलता।

स्वतन्त्र कही जानेवाली रियासतों का यह गुलामी का वातावरण है। विनयसिंह का पतन वहाँ के दम घोटनेवाले वायुमण्डल का पुष्ट प्रमाण है। चाहे विलासी विशालसिंह हों, चाहे साधु जसवन्तनगर के राजा, सभी अपनी सत्ता के लिए एक विदेशी शासन पर निर्भर हैं। इनमें ईश्वर का अंश तब तक है जब तक कि ब्रिटिश सरकार चाहती है कि वह उनमें रहे। इनमें महेन्द्रप्रतापसिंह सरीखे जनवादी राजाओं के भी नमूने हैं लेकिन अवसर आते ही वह जनवाद का लबादा उतार फेंकते हैं और भीतर के झलमलाते धनवाद के कवच में प्रकट हो जाते हैं। इन राजाओं से दो काम होते हैं।

विशालसिंह, भरतसिंह, महेंद्रप्रतापसिंह आदि में प्रेमचंद ने दिखाया है कि इस वर्ग के व्यक्तियों का देशप्रेम किसी भी क्षण विश्वासघात में परिणत हो सकता है। विशेष परिस्थितियों में पड़कर, बहुधा नाम और प्रसिद्धि की लालसा के कारण वे देशसेवा का ढोंग रचते हैं। इस ढोंग से प्रजा का शोषण करने में उन्हें एक प्रकार से सहायता मिलती है। ताल्लुकदारी देशसेवा की प्रेमचंद ने बखिया उधेड़कर रख दी है।

और अत्याचार का वातावरण है। एक मानसिक वासना इन महापुरुषों में रह गई है। उनके पुरुषार्थ का सार्टिफिकट उनकी रानियाँ उन्हे दे देती हैं। फिर भी इस मानसिक वासना की तृप्ति के लिए प्रजा पर नित्य नये अत्याचार होते हैं। अधिकारमद की कोई सीमा नहीं रहती। जैसे ही पुरुष को अपने निकम्मेपन का ज्ञान होता है, वैसे ही वह अपना क्रोध प्रजा पर उतारना चाहता है। इस वातावरण में मनुष्य परिश्रम नहीं करना चाहता ; यह सामाजिक व्यवस्था परिश्रम पर नहीं, ठगविद्या पर निर्भर है। इसलिए जो जितना बड़ा ठग है, वह उतना ही सफल है। इसीलिए इस वातावरण में कोई भला आदमी बिना उसकी वायु से स्वास्थ्य दूषित किये नहीं रह सकता।

जसवंतनगर के दीवान साहब ने कहा था—'सरकार की रक्षा में हम मनमाने कर वसूल करते हैं, मनमाने क़ानून बनाते हैं, मनमाने दंड लेते हैं, कोई चूँ नहीं कर सकता। यही हमारी कारगुज़ारी समझी जाती है, इसी के उपलक्ष में हमको बड़ी बड़ी उपाधियाँ मिलती हैं, पद की उन्नति होती है।' और विनयसिंह को कहना पड़ा था—'इससे तो यह कहीं अच्छा था कि रियासतों का निशान ही न रहता। यह हमारी समाज का उच्चतम वर्ग है, प्रासाद का गौरवपूर्ण मुकुट, जिसके विध्वंस की कामना की गई है : वास्तव में वह समाज के अन्य स्तरों से इतनी दूर है कि उसे समाज का अङ्ग कहने में झिझक लगती है। केवल, निम्न स्तरों को निम्न बनाये रखने में ऊपर से जो बोझ पडता है, वह लोगों को जता देता है कि ऊपर भी कोई है, जिसकी सत्ता भुलाई नहीं जा सकती।

जागीरदारी सभ्यता के ध्वंसावशेष

समाज के जाल में मोटी-मोटी गाँठों से बँधे छोटे और बड़े ज़मींदार हैं जिनका निर्धन वर्गों से निकट का सम्बन्ध है और जो नई महाजनी सभ्यता के संपर्क में आकर एक नया रूप धारण कर चुके हैं। 'गोदान' के रायसाहब इस वर्ग के सुन्दर प्रतिनिधि हैं। जागीरदारी सभ्यता की देन के साथ नई अंग्रेजी सभ्यता से भी उन्होंने अपने मतलब की बहुत-सी बातें ग्रहण की हैं जिससे वह एक नई और विचित्र सभ्यता के निदर्शन हो गये हैं। प्रेमचंद ने रायसाहब का जो चित्र बनाया है, उससे मिलते जुलते मॉडिल आज की सामाजिक व्यवस्था में पचासों देखने को मिलते हैं।

पहली बात देखने योग्य यह है कि रायसाहब धार्मिक व्यक्ति हैं। 'अपने पिता से सम्पत्ति के साथ-साथ उन्होंने राम की भक्ति भी पाई

थी' और इसलिए प्रति वर्ष वह धनुषयज्ञ का अनुष्ठान किया करते हैं। काम सब बेगार में होता है। चपरासी आकर कहता है, बेगारों ने काम करने से इनकार कर दिया है क्योंकि उन्हें खाने को नहीं मिलता। रायसाहब के माथे में बल पड़ जाते हैं। कहते हैं:—'जब कभी खाने को दिया नहीं गया, तो आज यह नई बात क्यों! एक आने रोज़ के हिसाब से मजूरी मिलेगी, जो हमेशा मिलती रही है और इस मजूरी पर उन्हें काम करना होगा, सीधे करें या टेढ़े।' रुपये की जो कमी होती है वह गाँवों से चन्दे के नाम पर वसूल होती है। इस तरह धनुषयज्ञ होता है जिसमें हाकिम हुक्काम, यार-दोस्त सब सम्मिलित होते हैं और धार्मिक होने का पुण्य लूटते हैं।

इसके अतिरिक्त रायसाहब ने राजनीतिक आंदोलन में भाग लिया है। जनता को आंदोलन से फ़ायदा हुआ हो चाहे न हुआ हो। इस जमींदार वर्ग को अवश्य हुआ है 'आमदनी और अधिकार में जौ भर भी कमी न होने पर भी उनका यश मानो बढ़ गया था।' जेल जाने से असामियों की उन पर बहुत श्रद्धा हो गई थी। ज़ाबते का काम वैसे ही चलता था, बेगार वैसे ही ली जाती थी। इस सबका कलंक मुख्तारों के सिर जाता, रायसाहब दूर पर वैसे ही अकलंक चमका करते। राष्ट्रवादी होना हुकामों को डालियाँ भेजने या कर्मचारियों को दस्तूरियाँ देने में बाधक न था। जो कुछ कमी थी उसे साहित्य और संगीत ने पूरा कर दिया था। अच्छे लेखक, अच्छे वक्ता, संगीत-प्रेमी! आदर्श सभ्य और शिक्षित मनुष्य! शिक्षा और सभ्यता द्वारा यदि असामियों का गला दबाया जा सके तो कोई असभ्य और अशिक्षित क्यों बने! 'सिंह का काम तो शिकार करना है; अगर वह गरजने और गुर्राने के बदले मीठी बोली बोल सकता, तो उसे घर बैठे मन-माना

शिकार मिल जाता। शिकार की खोज में उसे जंगल में न भटकना पड़ता।'

जागीरदारी सभ्यता के पुराने और नये प्रतिनिधियों के बीच का अंतर रायसाहब स्वयं बताते हैं। 'मेरे स्वर्ग-वासी पिता असामियों पर इतनी दया करते थे कि पाले या सूखे में कभी आधा और कभी पूरा लगान माफ कर देते थे। अपनी बखार से अनाज निकालकर आसामियों को खिला देते थे। घर के गहने बेचकर कन्याओं के विवाह में मदद देते थे; मगर उसी वक्त तक, जब तक प्रजा उनको सरकार और धर्मावतार कहती रहे।' धर्मावतार कहने पर इतनी सहायता मिल तो जाती थी; आत्म-गौरव की भावना संतुष्ट होने पर सहृदयता में परिणत हो जाती थी। लेकिन आज का जमींदार धर्मावतार कहलाने से नहीं पिघलता। उसके निकट आत्म-गौरव नहीं पैसे का महत्व है। वह साम्यवाद पर व्याख्यान दे सकता है लेकिन अपना स्वार्थ छोड़ने में अपनी विवशता दिखाता है। आत्म-गौरव का स्थान निर्लज्जता ने ले लिया है। सब जानते बूझते हुए भी नये युग का ज़मींदार अपनी स्वार्थपरता छोड़ने के लिए तैयार नहीं है।

मेहता से पूँजीवाद की निन्दा करते हुए रायसाहब कहते हैं— 'किसी को भी दूसरों के श्रम पर मोटे होने का अधिकार नहीं है। उपजीवी होना घोर लज्जा की बात है। समाज की ऐसी व्यवस्था, जिसमें कुछ लोग मौज करें और अधिक लोग पिसें और खपें, कभी सुखद नहीं हो सकती।...हमें अपने ऊपर विश्वास नहीं रहा, न पुरुषार्थ ही रह गया। बस, हमारी दशा उन बच्चों की-सी है, जिन्हें चम्मच से दूध पिलाकर पाला जाता है, बाहर से मोटे, अन्दर से दुर्बल सत्वहीन और मुहताज।' मेहता ने रायसाहब की प्रभावपूर्ण वक्तृता पर

उचित ही टिप्पणी की—'आपकी जबान में जितनी बुद्धि है, काश उसकी आधी भी मस्तिष्क में होती।'

जागीरदारी सभ्यता का यह नया प्रतिनिधि बातें बनाना खूब जानता है। उसके तर्क की भित्ति स्वार्थ है और तर्क का जगड्वाल खड़ाकर वह अपनी हृदयहीनता की रक्षा करता है। धर्म और राजनीति को वह अपने स्वार्थ-साधन का यंत्र बनाता है। उसने पुरानी शोषण-क्रिया के लिए नये अस्त्रों का प्रयोग करना सीखा है। वह कह सकता है—'जब तक किसानों को ये रिआयतें अधिकार के रूप में न मिलेंगी, केवल सद्भावना के आधार पर उनकी दशा नहीं सुधर सकती, क्योंकि वह जानता है कि जब तक वह अपने असद्भावना के आसन पर मज़बूती से बैठा है तब तक किसानों को न रिआयतें मिल सकती हैं, न अधिकार!

ज़मींदारी वर्ग के विचित्र विचित्र नमूने सबसे अधिक 'प्रेमाश्रम' में देखने को मिलते हैं। प्रभाशंकर और ज्ञानशंकर नये और पुराने ज़मींदारों का अंतर स्पष्ट करते हैं। दोनों ही ऐसे घराने के हैं जिस पर पुरानी रूढ़ियों का प्रभाव पड़ा है परन्तु एक अभी पुरानी सभ्यता के स्वप्न में डूबा हुआ है, दूसरा नई महाजनी सभ्यता के संपर्क में आ चुका है। प्रभाशंकर स्व० जटाशंकर के भाई हैं, ज्ञानशंकर उनके लड़के। जटाशंकर को अपनी मानमर्यादा का बड़ा ध्यान था। उन्होंने बहुत-सी संपत्ति अपनी मर्यादा की रक्षा में गँवा दी, लड़कियों के विवाह में, साधुसत्कार और अतिथि-सेवा में, उत्सव मनाने में और पालकी पर चढ़कर घर से निकलने में। पुरानी जागीरदारी सभ्यता नये परिवर्तनों के अनुसार अपने को सुधार न सकी इसलिए दिन पर दिन वह जर्जर होती गई और ज्ञानशंकर यदि उसमें नये स्वार्थ की प्राणप्रतिष्ठा न

करते तो वह निश्चय ढह जाती। उसकी दशा का जटाशंकर का पुराना मकान एक सुदर प्रतीक है। 'मकान के दो खण्ड आमने-सामने बने हुए थे। एक जनाना मकान था, दूसरा मरदानी बैठका, दोनों खंडों के बीच की ज़मीन बेल-बूटे से सजी हुई थी, दोनों ओर ऊँची दीवारें खिची हुई थीं; लेकिन दोनों ही खंड जगह-जगह टूट-फूट गये थे। कहीं कोई कड़ी टूट गई थी और उसे थूनियों के सहारे रोका गया था, कहीं दीवार फट गई थी और कहीं छत धँस पड़ी थी--एक वृद्ध रोगी की तरह जो लाठी के सहारे चलता हो।' प्रभाशंकर इस गिरती इमारत से सहानुभूति रखते हैं; ज्ञानशकर उसकी नये सिरे से मरम्मत कराना चाहते हैं। दोनों में संघर्ष अनिवार्य हो जाता है।

प्रभाशंकर भाई के समय इलाके का प्रबन्ध करते थे; ज्ञानशकर के मालिक होने पर उन्हें मालूम होता है कि समय बदल गया है। ज्ञानशंकर ने देखा कि जिस ज़मीन के १००) मिल सकते हैं उसे पुराने आसामी ५०) में जोतते हैं। चाचा की उदासीनता से आसामी दखलकार हो गये हैं। इसी बात को लेकर वह मनोहर को डाटते हैं कि उस पर इजाफा लगान का दावा कर दिया जायगा। प्रभाशंकर के लिए यह एक अनहोनी बात है।' पुरानी बातों को यादकर वह मनोहर से कहते हैं—'तुम लोग हमारे पुराने आसामी हो, क्या नहीं जानते हो कि असामियों पर सख्ती करना हमारे यहाँ का दस्तूर नहीं है? ऐसा ही कोई काम आ पड़ता है तो तुमसे बेगार ली जाती है और तुम हमेशा उसे हँसी-खुशी देते रहे हो। अब भी उसी तरह निभाते चलो। नहीं तो भाई ज़माना नाज़ुक है, हमने तो भली-बुरी तरह अपना निभा दिया, मगर इस तरह लड़कों से न निभेगी।' ज़माना नाज़ुक हो गया है, इस बात पर

ज्ञानशंकर दूसरी तरह ज़ोर देते हैं।' पुराने ज़माने की बात और थी। तब जीवन-संग्राम इतना भयंकर न था, हमारी आवश्यकताएँ परिमित थीं, सामाजिक अवस्था इतनी उन्नत न थी। और सबसे बड़ी बात तो यह कि भूमि का मूल्य इतना चढ़ा हुआ न था। मेरे कई गाँव जो दो-दो हजार पर बिक गये हैं, उनके दाम आज २०-२० हजार लगे हुए हैं। उन दिनों आसामी मुश्किल से मिलते थे। अब एक टुकड़े के लिये सौ सौ आदमी मुँह फैलाये हुए हैं। यह कैसे हो सकता है कि इस आर्थिक दशा का असर ज़मींदार पर न पड़े?' अवश्य पड़ेगा और यदि वह शोषण की गति और तीव्र न करे तो स्वयं मिट जायगा। प्रभाशंकर मिट रहे हैं; ज्ञानशंकर जीना चाहते हैं। और उनके जीने के लिए यह जरूरी है कि वह किसानों को मिटायें। प्रभाशंकर ने मनोहर से रोटी खा लेने को कहा था, ज्ञानशंकर मनोहर पर ही नहीं, जितने भी आसामियों पर हो सके, अपने कारिंदे से इजाफा लगान का दावा करने को कहते हैं। परिस्थिति ही ऐसी हो गई है कि जमींदार और आसामी दोनों की साथ रहने की संभावना नहीं हैं। उनमें से एक को मिटना ही होगा।

लाला प्रभाशंकर का अन्त अत्यन्त करुण है। पुरानी सभ्यता नये वातावरण के लिए कितनी अयोग्य है, इसका प्रेमचन्द ने सांगोपांग चित्रण कर दिया है। प्रेमशकर के लिए अपील को इकट्ठे किये रुपयों में से बहुत-से बच रहे थे। प्रभाशंकर की स्त्री चतुर थीं; लगे हाथ दो लड़कियों का ब्याह कर दिया। प्रभाशंकर ने इन दिनों खूब रसीले पकवान बना कर खाये खिलाये। लेकिन जब रूखी रोटियों की बारी आई तब उनका जी कुढ़ने लगा। प्रभाशंकर की असहाय अवस्था से पाठक को सहज सहानुभूति हो जाती है। 'रूखा भोजन कण्ठ से नीचे

उतरता ही न था। बहुधा चौके पर से मुँह जूठा करके उठ आते, पर सारे दिन जी ललचाया करता, अपनी किताब खोलकर उसके पन्ने उलटते कि कौन-सी चीज आसानी से बन सकती है, पर वहाँ ऐसी कोई चीज़ न मिलती। बेचारे निराश होकर किताब बन्द कर देते और मन को बहलाने के लिए बरामदे में टहलने लगते, बार-बार घर में जाते, आल्मारियों और ताखों की ओर उत्कण्ठित नेत्रों से देखते कि शायद कोई चीज़ निकल आये। अभी तक थोड़ी-सी नवरत्न चटनी बची हुई थी। और न मिलता तो सबकी नज़र बचा उसमें से एक चम्मच निकालकर चाट जाते।' लेकिद यह पतन का आरम्भ था। जब चटनी न रही तो उधार लेकर चाट खाना शुरू किया। चाटवालों ने तकाज़ों से परेशान किया तो एक दिन प्रेमशंकर की स्त्री ने साड़ी के लिए रुपये दिये, वह उन्होंने चाटवालों को दे दिये, साड़ियाँ उधार ले आये। इसके बाद जब चाट उधार न मिलती तो नानबाइयों के मुहल्ले का चक्कर लगाकर लौट आने लगे। पुरानी सभ्यता से सहानुभूति होते हुए भी उसके दारुण अन्त को छिपाने की प्रेमचन्द ने चेष्टा नहीं की। वरन् उसकी पूरी वीभत्सता में उसे चित्रितकर दिखाया है जिससे समाज के परिवर्तन को समझने मे कोई भूल न करे। 'सत्तर साल का बूढ़ा, उच्चकुल-मर्यादा पर जान देनेवाला पुरुष, गन्ध से रस का आनन्द उठाने के लिए घण्टों नानबाइयों की गली में चक्कर लगाया करता, लज्जा से मुँह छिपाये हुए कि कहीं कोई देख न ले।' जब पुरानी कुल-मर्यादा का विचार प्रभाशंकर को इस दशा तक खींच लाया तब ज्ञानशंकर को ही गायत्री की जायदाद हथियाने के लिए कैसे दोषी ठहराया जा सकता है! वातावरण ही ऐसा है कि या तो उसमें ज्ञानशंकर यानी पशु बनकर राज्य किया जाय या प्रभाशंकर या

आदमी बनकर मिट जाया जाय। एक तीसरा मार्ग और है, प्रेमशंकर का, इस वातावरण का नाशकर एक नई व्यवस्था को जन्म दिया जाय।

ज्ञानशंकर का चरित्र आज की सामाजिक व्यवस्था पर गहरा व्यंग्य है। उनका जीवन छल-कपट ईर्ष्या-लोभ में बीतता है फिर भी अन्त कितना सुखद! लोक परलोक दोनों न बिगड़े! राजा और प्रजा दोनों ही वाहवाही करें! पिता के मरने पर उन्होंने श्राद्ध से ही कंजूसी करना शुरू किया। फिर इलाके के प्रबन्ध में चाचा प्रभाशकर से संघर्ष हुआ। आसामियों पर इजाफा-लगान के उन्होंने दावे किये। अपने भतीजे दयाशंकर को जेल भिजवाना चाहा पर जब डिप्टी ज्वालासिंह ने उन्हें छोड़ दिया तो प्रभाशंकर के आगे उन्हें छुड़ाने के लिए वाहवाही स्वयं लूटना चाही। राय कमलानन्द की सम्पत्ति पर दाँत लगाये उन्होंने उनके विलास आमोद की निन्दा की जब कि वह स्वयं गायत्री के प्रेमपाश में बँधे हुए थे। प्रेमशंकर के अमरीका से लौटने पर इस भय से कि कहीं इलाके में हिस्सा न माँगें, उन्होंने उन्हें जाति से भी अलग करा दिया। गायत्री के इलाके में जाकर वह मैनेजर हुए और वहाँ किसानों पर अत्याचार कर मनमाना रुपया पैदा किया, कहने को गायत्री के लिए पर वास्तव में अपने लिए क्योंकि गायत्री की जायदाद हथियाने का प्रपञ्च उन्होंने रच लिया था! डिप्टी ज्वालासिंह से मन न मिलने पर वह उन्हें पत्रों में बदनाम करने से नहीं चूके, यद्यपि ज्वालासिंह उनके सहपाठी थे और अपनी गरज को वह ज्वालासिंह की बीबी तक के आगे गिड़गिड़ाने से नहीं सकुचाये। घर में नित ही कलह रही, अपने घरवालों का स्नेह या श्रद्धा उन्हे कभी न मिली। दुनिया को ठगना आसान था, घरवाले अधिक निकट थे। रायसाहब कमलानंद को जहर दिया, फिर उन्हीं की लड़की गायत्री को

राधा बना स्वयं कृष्ण रूप धर उससे प्रेम-निवेदन किया।

इस सबके अतिरिक्त निरीह किसानों पर अत्याचार की एक लंबी कथा है जो उनके उत्थान की जड़ में है। एक ओर ज्ञानशंकर का मान सम्मान है—'अखबारों में उनकी उदारता और सज्जनता की प्रशंसा होने लगी। यहाँ तक कि साल भी न बीतने पाया था कि वह लखनऊ की ताल्लुकेदार-सभा के मन्त्री चुन लिये गये। राज्याधिकारियों में भी उनका सम्मान होने लगा। वह वाणी में कुशल थे ही, प्रायः जातीय सम्मेलनों में ओजस्विनी वक्तृता देते। पत्रों में वाह-वाही होने लगती। अतएव वह इधर तो जाति के नेताओं में गिने जाने लगे, उधर अधिकारियों में भी मान-प्रतिष्ठा होने लगी।' दूसरी ओर उनका प्रजा के साथ निर्दय व्यवहार है—'अपनी मूक, दीन प्रजा के साथ उनका वर्ताव इतना सदय न था। उन वृक्षों में काँटे न थे, इसलिए उनके फल तोड़ने में कोई बाधा न थी। आसामियों पर अखराज बक़ाया और इजाफे की नालिशें धूम से हो रही थीं, उनके पट्टे बदले जा रहे थे और नजराने बड़ी क़ठोरता से वसूल किये जा रहे थे।' तारीफ यह कि प्रजा इतने पर भी असंतुष्ट न थी। यह महाजनी सभ्यता में पला जमींदार कच्चा खिलाड़ी नहीं है; वह शोषण की मशीन में हमेशा रोशनाई डाला करता है कि उसकी गति सहज चिकनी बनी रहे। जब गाय को चारा ही न दिया जायगा तो उसे दुहा कैसे जायगा? 'वह कड़वी दवाएँ मीठी करके पिलाते थे। गायत्री की बरसी में उन्होंने आसामियों को एक हज़ार कम्बल बाँटे और ब्राह्मणों को भोज दिया। इसी तरह रायसाहब के इलाके में भी होली के दिन जलसे कराये, और भोले-भाले आसामियों को भरपेट भंग पिलाकर मुग्ध कर दिया। कई जगह मंडियाँ लगवा दीं, जिससे कृषकों को अपनी जिन्सें बेचने में बड़ी

सुविधा हो गई और रियासत को भी अच्छा लाभ होने लगा। और इस कार्यप्रणाली से ज्ञानशंकर का सूर्य बीच आकाश में चमकने लगा। इस सूर्य को देखकर ज्ञानशंकर के हृदय में ईश्वर के प्रति श्रद्धा उदय हो आई। 'निश्सन्देह इस सफलता के लिए मुझे स्वाँग भरने पड़े, हाथ रँगने पड़े, पाप, छल, कपट, सभी कुछ करने पड़े। किन्तु अँधेरे खोह में उतरे बिना अनमोल रत्न कहाँ मिलते हैं? लेकिन इसे अपने ही कृत्यों का फल समझना मेरी नितान्त भूल है। ईश्वरी व्यवस्था न होती तो मेरी चाल कभी न सीधी पड़ती।'

ज्ञानशंकर प्रेमचन्द की तमाम रचनाओं में सबसे दुष्ट नायक है। साधारण झूठ बोलने से लेकर मनुष्य-हत्या तक ज्ञानशंकर ने सभी कुछ किया, परन्तु सारे कृत्यों की परिणति हुई जाकर ईश्वर के प्रति श्रद्धा में! उसकी इस विजय में प्रेमचन्द ने आज की विदेशी सभ्यता से संपर्क में आई धूर्त और स्वार्थी जमींदारी प्रथा को विजयी होता दिखाया है। वह स्वार्थ के लिए अपनी मर्यादा का झंडा गाड़ती है, स्वार्थ के लिए राधाकृष्ण की मूर्ति बनाकर पूजती है और स्वार्थ के लिए धीरे-धीरे किसान का रक्त पीती है। उसके सिर पर रक्षा के लिए विदेशी शासक है, वह उसे खुश रखती है, नीचे किसान है, उसे दबाकर वह अपनी खुशी के साधन जुटाती है और उसी को दबाकर वह सर के ऊपर शासक को भी खुश रखती है। किसान की गर्दन पर सवार होकर भी वह उसके कान में गीता का पाठ करती है और उसकी जीभ को गुड़ चटाया करती है। मनुष्य की जितनी भी पतित प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं, उन पर वह इतना भव्य महल बनाती है कि उसके विरोध में किसी को कुछ कहने का साहस नहीं होता। लोक और परलोक दोनों ही सधते हैं। ज्ञानशंकर की समृद्धि और अन्त में उसकी आत्म-तुष्टि देखकर हठात् कहने

को जी चाहता है, जैसे तुम्हारे दिन बहुरे, वैसे सब के दिन बहुरें।

ज्ञानशंकर के उत्थान के साथ किसानों के पतन की लम्बी कहानी है और जब हम उसे देखते हैं (अगले अध्याय में) तब हमें स्वार्थ के भव्य महल के नीचे छिपे एक ज्वालामुखी का पता चलता है। हम कभी बलराज की लाठी की तरफ देखते हैं, कभी ज्ञानशंकर की खोपड़ी की तरफ! बलराज अपने बाप से कहता है—'क्यों न बोलूँ, तुम तो चार दिन के मेहमान हो, जो कुछ पड़ेगी वह तो हमारे सिर ही पड़ेगी। जमींदार कोई बादशाह नहीं है कि चाहे जितनी जबरदस्ती करे और हम मुँह न खोलें। इस ज़माने में तो बादशाहों का भी इतना अख्तियार नहीं है, जमींदार किस गिनती में है! कचहरी दरबार में कहीं सुनायी नहीं है तो (लाठी दिखाकर) यह कहीं नहीं गयी है।' ज्ञानशंकर की विजय व्यक्तिगत नहीं है; उसकी सहायता के लिए एक वर्ग की पूरी शक्ति और उसकी विशिष्ट परिस्थितियाँ हैं। बलराज की लाठी उस नये वातावरण की ओर संकेत भर करती है जो इस वर्ग और उसकी शक्तियों को नष्ट करने के लिए धीरे-धीरे संगठित हो रहा है।

ज्ञानशंकर से भिन्न उनके ससुर कमलानंद हैं जो नई सभ्यता के सम्पर्क में आये तो हैं परन्तु अधिकतर उससे उसके दोष ही ले सके हैं, आत्मरक्षा के गुण नहीं। पुरानी सभ्यता से अधिक प्रभावित होने के कारण वह ज्ञानशंकर की भाँति एक नये साँचे में नहीं ढल सके। नई सभ्यता से उन्होंने घुड़दौड़ का शौक सीखा लेकिन शिकार और सितार का शौक खान्दानी था। पोलो खेलते थे, साथ-साथ संस्कृत और फ़ारसी के भी विद्वान थे। विद्वत्ता और संगीत-प्रेम के साथ पाशविक बर्बरता है जो आसामियों

पर उतरती है। विद्या—रायसाहब की लड़की ही—अपनी बहन गायत्री से कहती है—'उस साल जब अकाल पड़ा और प्लेग भी फैला तब हम लोग इलाके पर गये। तुम गोरखपुर थीं। उन दिनों बाबूजी की निर्दयता देखकर मेरे रोयें खड़े हो जाते थे। असामियों से रुपये वसूल न होते और हमारे यहाँ नित्य नाच-रंग होता रहता था। बाबूजी को उड़ाने के लिए रुपये न मिलते तो वह चिढ़कर आसामियों पर गुस्सा उतारते। सौ-सौ मनुष्यों को एक पाँति में खड़ा करके हन्टर से मारने लगते। बेचारे तड़प-तड़प कर रह जाते; पर उन्हें तनिक भी दया न आती थी। इसी मार-पीट ने उन्हें निर्दय बना दिया है।' गायत्री स्वयं एक बड़े इलाके की मालकिन है; इसलिए अपने पिता—और पिता से अधिक अपने वर्ग पर यह आक्रमण नहीं सह सकती। अपने मृत पति का ज़िक्र कर कहती है—'तुम्हारे जीजा कैसे सज्जन थे, द्वार पर से किसी भिक्षुक को निराश न लौटने देते। सत्कार्यों में हजारों रुपये खर्च कर डालते थे। कोई ऐसा दिन न जाता कि सौ-पचास साधुओं को भोजन न कराते हों। हज़ारों रुपये तो चन्दों में दे डालते थे। लेकिन उन्हें भी आसामियों पर सख्ती करनी पड़ती थी। मैंने स्वयं उन्हें आसामियों को मुश्कें कसके पिटवाते देखा है। जब कोई और उपाय न सूझता तो उनके घरों में आग लगवा देते थे और अब मुझे भी वही करना पड़ता है।' राय कमलानन्द—गायत्री—उसके मृत पति, सभी का दमन किसानों पर समान रूप से निर्दय और बर्बर है; अन्तर केवल उस बर्बरता पर खड़ी की हुई सभ्यता की इमारत में है। राय कमलानन्द संगीत और साहित्य की चर्चा करते हैं और राजनीति में भाग लेते हैं। उनके दामाद साधु-सेवा करते थे और चन्दा देते थे। गायत्री स्वयं राधा बन कृष्ण की उपासना करती है, धर्म और राजनीति

के विभिन्न आच्छादन पहने अन्दर एक ही पीड़क की काया छिपी हुई है।

गोदान के रायसाहब की तरह कमलानन्द भी बातें बनाने में बड़े पटु हैं। जानते समझते सब हैं परन्तु स्वार्थ को छोड़कर त्याग की राह कौन चले! त्याग तब तक जब तक स्वार्थ पर आँच नहीं आती। गोदान में रायसाहब जेल जाते हैं, उनका सम्मान बढ़ता है, उगाही में कोई दिक्कत नहीं होती। कमलानन्द असहयोग के विरोधी हैं क्योंकि तब (सन् २० के आस पास) जेल जाने से स्वार्थ-सिद्धि की ऐसी गारण्टी न थी। प्रजा के प्रतिनिधि बनकर वह कौंसिल जाते हैं। यद्यपि जानते हैं कि कठपुतलियों की तरह उन्हें केवल एक स्वांग भरना है। 'हम काठ के पुतले हैं, तमाशे दिखाने के लिए खड़े किये गये हैं, इसलिए हमें डोरी के इशारे पर नाचना चाहिये। यह हमारी खामखियाली है कि हम अपने को राष्ट्र का प्रतिनिधि समझते हैं। जाति हम जैसों को, जिनका अस्तित्व ही उसके रक्त पर अवलम्बित है, कभी अपना प्रतिनिधि न बनायेगी। जिस दिन जाति में अपनी हानि-लाभ समझने की शक्ति होगी, हम और आप खेतों में फावड़े चलाते नज़र आवेंगे। हमारा प्रतिनिधित्व संपूर्णतः हमारी स्वार्थपरता और संमान-लिप्सा पर निर्भर है, हम जाति के हितैषी नहीं है, हम उसे केवल स्वार्थसिद्धि का क्षेत्र बनाये हुए हैं।' अपनी स्वार्थपरता का ज्ञान इस प्रपञ्च को और भी वीभत्स बना देता है। मनुष्य को अपने ह्रास का ज्ञान हो, फिर भी वह उठने की चेष्टा न करे, प्रत्युत् जान-बूझकर पाप को हृदय से लगाये रहे, अपनी अमानुषिकता को जानते हुए भी वह उसे प्यार करे, यह ऐसा पतन है जैसे कोई जान-बूझकर जूठी पत्तल चाटे कि उसमें सूखी रोटी से अधिक स्वाद है। इसमें

सन्देह है कि जाति को अपनी शक्ति का ज्ञान होने पर ऐसे अमानुषिक प्राणी-विशेष खेतों में फावड़ा भी चला सकेंगे या नहीं या उनका अन्त भी उनके जीवन के अनुकूल ही वीभत्स और अमानुषिक होगा। ऐसे व्यक्ति कमर कसकर जन-साधारण के हित के लिए जीवन-संग्राम में नहीं उतरना चाहते; इससे वह आत्म-हत्या अधिक श्रेयस्कर समझते हैं। राय कमलानन्द को ज्ञानशंकर ने विष दिया था; वह एक पहाड़ी पर जाकर योग क्रियाएँ करते हुए जान देते हैं, जिस प्रजा पर जीवन-भर अत्याचार किया, उसका क्षण-भर को भी विचार किये बिना वह अपनी रियासत ज्ञानशंकर के लिए छोड़कर चले जाते हैं।

कमलानन्द-ज्ञानशंकर की श्रेणी से अलग एक दूसरी तरह के ज़मीन्दार हैं, जो भूमि की रक्षा के साथ-साथ धर्म की रक्षा भी करते हैं। इनका अत्याचार और भी प्राणघातक होता है, क्योंकि इनकी सहायता के लिए भगवान और ब्रिटिश सरकार दोनों रहते हैं। वास्तव में धर्म का गुर महंतों और धर्माधिकारियों से इतर पहली श्रेणी के व्यक्तियों को भी मालूम था। गायत्री के पति साधु-सेवा करते थे और इलाके में जाकर आसामियों की मुश्कें बँधवाते थे। 'गोदान' के रायसाहब इन्द्रधनुष के पीछे हल पीछे चन्दा बाँधते थे। वास्तव में जमींदार की शक्ति बढ़ाने के लिए धर्म उसका एक मुख्य अस्त्र रहा है और प्रेमचन्द ने जमींदारी और उसके सहायक ईश्वर और धर्म पर कटु से कटु व्यंग्य-वाण बरसाने में कोई कसर नहीं रखी। देश काल की परिस्थितियों से उत्पन्न ईश्वर और धर्म के ढाँचे को उन्होंने बिखेर कर पाठक के सामने रख दिया है जिससे भय और श्रद्धा के स्थान में उसे अपने ही कुसंस्कारों का नग्न चित्र दिखाई देने लगता है। गायत्री के इलाके का प्रबन्ध

करते ज्ञानशंकर ने उसे राधा बना स्वयं कृष्ण का भेष बनाया और जैसे-जैसे उनकी धार्मिकता रंग लाई, वैसे ही वैसे आसामियों से रुपया खींचने की नई-नई प्रणालियाँ भी आविष्कृत हुईं। ज्ञानशंकर का धर्मानुराग बढ़ा, संसार से जी उचटा, परन्तु रियासत का प्रबन्ध पहले की ही भाँति होता रहा। अब केवल 'निर्दिष्ट लगान के अतिरिक्त प्रत्येक आसामी से ठाकुरद्वारे और धर्मशाले का चन्दा भी लिया जाता था।' लगान के साथ और पैसा खींचा जाने लगा, धर्मशाला और ठाकुरद्वारा बनवाने के लिए। 'दूर-दूर से कुशल कारीगार बुलाये गये थे, जो पच्चीकारी, गुलकारी, चित्रांकण, कशव, जटाव की कलाओं में निपुण थे। जयपुर से संगमरमर की गाड़ियाँ भरी चली आती थीं। चुनार, ग्वालियर आदि स्थानों से तरह तरह के पत्थर मँगवाये जाते थे।' इससे कल्पना की जा सकती है कि इमारतें कितनी भव्य बनेंगी। ज्ञानशंकर ने रुपये पैदा करने की नई-नई तरकीबें निकालीं लेकिन लौट-पौट कर उन सब का अन्त आसामियों में होता था। जहाँ तक किसानों का सम्बन्ध था उनके लिए नई और पुरानी प्रणालियों में कोई अन्तर न था क्योंकि सार वस्तु पैसा उन्हें देना ही पड़ता था।

धर्म के नेताओं ने गायत्री का यह उत्साह देखा तो उन्हें सनातन-सभा का सभापति बनाया। और फलतः आसामियों पर धर्मशाला और ठाकुरद्वारा के साथ इस सनातनधर्म सभा का चन्दा और लगा। ज्ञानशंकर की मधु में डूबी जीभ भी आसामियों से सहज ही सभा के लिए चन्दा वसूल न कर सकी। आसामियों के विद्रोह का समाचार लेकर वह गायत्री के पास आये। 'यह दो पत्र बरहल और आमगाँव के कारिन्दों के हैं। दोनों लिखते हैं कि आसामी सभा का चन्दा देने से इन्कार करते हैं।' फिर क्या था, धर्म को यह अत्याचार कब सहन

हो सकता था। 'गायत्री की त्योरियाँ बदल गयीं। प्रेम की देवी क्रोध की मूर्ति बन गई। बोली, क्या देहातों में भी यह हवा फैलने लगी! कारिन्दों को लिख दीजिये कि इन पाजियों के घर में आग लगवा दें और उन्हें कोड़ों से पिटवायें। उनका यह दिन कि मेरी आज्ञा का अनादर करें।' इस सनातन प्रणाली से रुपया उगाह कर सनातनधर्म सभा में सरकस और नाटक की कम्पनियाँ बुलाई गईं। ज्ञानशंकर ने एक दूसरा पत्र दिखाया, ठाकुरद्वारे का काम तीन दिन से बन्द था। लोग बेगार करने पर राज़ी न थे। गायत्री ने इस पर भी फैसला दिया—'लिख दीजिये कि बेगारों को जबरदस्ती पकड़वा लें। अगर न आयें तो उन्हे गाँव से निकाल दीजिये। हम स्वयं दयाभाव से उनके साथ चाहे जो सलूक करें, मगर यह कदापि नहीं हो सकता कि कोई आसामी मेरे सामने हेकड़ी जताये। अपना रोब और भय बनाये रखना चाहिये।'

जब जमींदारों की दयालुता का यह हाल है, तब महन्तों और मठाधीशों का क्या पूछना जो बने बनाये आसामियों की देह और आत्मा के स्वामी हैं। कितने दिन पहले, प्रेमचन्द ने इस धर्म और धर्म की आड़ में भूमि-अधिकार के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी। 'सेवासदन' में महत रामदास के चित्रण में प्रेमचन्द की कला अपने पूरे विकास पर है। धर्म और अधिकार के ढकोसले को पहचानने और उसकी छान-बीन करने में जितनी उनकी दृष्टि पैनी है, उतनी ही उनकी लेखनी व्यंग्य में बुझी हुई तीव्र और कटु है। रामदास साधुओं की गद्दी के एक महत हैं। उनका सारा कारोबार श्री बाँकेविहारीजी के नाम पर होता है। 'श्री बाँकेविहारीजी लेन-देन करते और ३२) सैकडे से कम सूद न लेते थे। वही मालगुजारी वसूल करते थे, वही रेहननामे-बैनामे

लिखाते थे। श्री बाँकेबिहारीजी की रकम दबाने का किसी को साहस न होता था, और न अपनी रकम के लिए कोई दूसरा आदमी उनसे लड़ाई कर सकता था।' बाँकेबिहारीजी की सहायता के लिए और पार्थिव साधन भी थे। महंतजी के यहाँ पलनेवाले साधुओं के रूप में बाँकेबिहारी निरीह किसानों को जता देते थे कि तुम्हारे ऊपर एक ईश्वर है। 'महंत रामदास के यहाँ दस-बीस मोटे-ताजे साधु स्थायी रूप से रहते थे। वह अखाड़े में डंड पेलते, भैंस का ताजा दूध पीते, सन्ध्या को दूधिया भंग छानते और गाँजे, चरस की चिलम तो कभी ठंडी न होने पाती थी। ऐसे बलवान जत्थे के विरुद्ध कौन सिर उठाता!' निश्चय, बाँकेबिहारी से बाँकेबिहारी के सामंत अधिक शक्तिशाली थे।

बाँकेबिहारी अधिकारियों को मोतीचूर के लड्डू और मोहनभोग खिलाते थे, इसलिए इलाके में ठाट-बाट से अपना जुलूस भी निकालते थे। 'ऊँटों पर छोलदारियाँ, डेरे और शामियाने लदे होते थे' और 'यह दल जिस गाँव में पहुँचता था उसकी शामत आ जाती थी।' एक बार महंतजी ने यज्ञ किया, दस हज़ार महात्माओं को निमंत्रण दिया गया और आसामियों को पुण्य-फल यह मिला कि हल पीछे पाँच रुपया चन्दा उगाहा गया। खुशी से दिया तो, उधार लेकर तो, नहीं तो रुक्का ही लिख दिया। बाँकेबिहारी का विद्रोह करनेवाला केवल एक उन्हीं का जातिभाई अहीर निकला, एक बूढ़ा दरिद्र आदमी, नाम जिसका चेतू था। 'कई साल से उसकी फसल खराब हो रही थी। थोड़े ही दिन हुए श्री बाँकेबिहारीजी ने उस पर इजाफा लगान की नालिश करके उसे ऋण के बोझ से और भी दबा दिया था। उसने यह चन्दा देने से इनकार

किया। यहाँ तक कि रुक्का भी न लिखा। ठाकुरजी ऐसे द्रोही को भला कैसे क्षमा करते! एक दिन कई महात्मा चेतू को पकड़ लाये। ठाकुर-द्वारे के सामने उस पर मार पड़ने लगी। चेतू भी बिगड़ा। हाथ तो बँधे हुए थे, मुँह से लात-घूँसों का जवाब देता रहा और जब तक जबान बन्द न हो गई, चुप न हुआ। इतना कष्ट देकर भी ठाकुरजी को सन्तोष न हुआ। उसी रात को उसके प्राण भी हर लिए।' महात्माओं के महात्मापन और बाँकेविहारी के बाँकपन को सिद्ध करने के लिए इससे अधिक और सुन्दर कौन-सा प्रमाण होता कि धर्म के पीछे उन्होंने एक गरीब आसामी को वीरगति प्रदान कर दी।

इसी कोटि के जमीन्दार 'कर्मभूमि' के महन्त आशाराम गिरि हैं। ठाकुरद्वारे में कभी कुछ कभी कुछ, कोई न कोई उत्सव हुआ ही करता है—कभी ठाकुरजी का जन्म, कभी ब्याह, कभी यज्ञोपवीत! और एक बार नहीं, बार-बार वह जन्मते थे, मरने का कभी नाम न लेते थे। 'आसामियों को इन अवसरों पर बेगार देनी पड़ती थी, भेंट-न्यौछावर, पूजा-चढ़ावा आदि नामों से दस्तूरी चुकानी पड़ती थी; धर्म के मुआमले में कौन मुँह खोलता!' एक साल ऐसी मन्दी हुई कि लोगों को मुँह खोलना ही पड़ा। भोला चौधरी ने किसानों की सभा में कहा—'मैं गंगामाता की कसम खाके कहता हूँ, कि मेरे घर में छटाँक भर भी अन्न नहीं है, और जब मेरा यह हाल है, तो और सबों का भी यही हाल होगा।' और गूदड़ ने धँसी हुई आँखें फाड़कर कहा—'हम और कुछ नहीं चाहते। बस हमें और हमारे बाल-बच्चों को आध-आध सेर रोजीना के हिसाब से दिया जाय। उपज जो कुछ हो वह सब महन्तजी ले जायँ।' परन्तु गोशाला, हाथी-शाला, घुड़शाला, धर्मशाला, आदि से घिरी बीच में महन्तजी की मूर्ति

है जहाँ गूदड़ की पहुँच नहीं है। 'मेरी तो सूरत ही चमार-चमार पुकार रही है।'—जिसके विपरीत महन्तजी की सूरत पुकारती है, भगवान् होंगे तो ऐसे ही। सोने की कुर्सी पर जिस पर मखमली गद्दा पड़ा है, छः फीट के महन्तजी, विशालकाय सौम्य पुरुष, रेशमी काषाय वस्त्र धारण किये हुए, संगमरमर के फर्श पर महिलाओं से घिरे हुए बैठे हैं। धर्म के व्यावहारिक रूप की साकार प्रतिमा, लोक और परलोक दोनों एक साथ साधने के जाज्वल्यमान उदाहरण!

चित्र का दूसरा पहलू हम अगले अध्याय में देखेंगे,—किस नारकीय शोषण पर यह भव्यता का प्रासाद खड़ा है और किस आत्म-शक्ति ने उसकी नींवों को हिला दिया है। ज्ञानशंकर, गायत्री, महन्त रामदास, आशाराम गिरि, गोदान के 'रायसाहब' आदि अपनी भव्यता के बीच, मानो एक अक्षय कवच में सुरक्षित हैं। जमींदारों के विशाल वर्ग में सभी तरह के नमूने हैं, लेकिन जो पुरानापन लिये हैं, वे मुरझा रहे हैं, जिन्होंने महाजनी सभ्यता से समझौता कर लिया है वे हरे हो रहे हैं। धर्म उनका प्रधान मन्त्र है जो प्रजा से रक्त खींचकर उनकी जड़ों को सींचता है और उन्हें हरा रखता है। और इस हरियाली के पीछे छिपी हुई एक साम्राज्यवाद की शक्ति है जो उनके शोषण-यन्त्र को चालू रखने के लिए ईंधन जुटाया करती है। धर्म के अतिरिक्त देशसेवक का बाना उनकी अनेक प्रकार से सहायता करता है। खद्दर पहनकर किसानों के प्राण बनना कितना सरल है! जो कहीं एक बार जेल भी हो आये तो पूछना ही क्या। राय कमलानन्द जेल जाने से झिझके; इसलिए उन्हें अपने जीवन में उतनी सफलता नहीं मिली जितनी 'गोदान' के रायसाहब को। देश की नई राजनीतिक परिस्थितियों में समाज के ये लुटेरे कैसे रंग बदलते हैं, इसका प्रेमचन्द

ने विशद चित्रण किया है। नई सभ्यता के संपर्क में आकर यह वर्ग और सबल हो गया है। उसके मस्तिष्क में जैसे एक नई प्रतिभा जाग्रत हो गई है और वह पहले से अधिक भयानक हो गया है; राजाओं की भाँति यह वर्ग भीतर से खोखला नहीं हो गया वरन् पहले से अधिक सबल होकर वह एक ऐसी दृढ़ सामाजिक शक्ति हो गया है कि उसके महत्त्व से उदासीन रहना सामाजिक परिवर्तन को असफल बनाना होगा। समाज का सबसे निकृष्ट और पीड़ित वर्ग किसानों का है और किसानों के ऊपर सबसे पहले जमींदारों का शासन है। सामाजिक यंत्र में जमींदार वर्ग लोहे का वह भारी बोझ है जिसे सरकाये बिना किसानों के वर्ग में गति नहीं आ सकती। किसानों की बढ़ती निर्धनता के साथ इस वर्ग ने अपने शोषण के साधनों में कितनी उन्नति की है, यह हम अगले अध्याय में देखेंगे। वास्तव में जिस शोषणचक्र में किसान पिस रहे हैं, उसका चित्रण ही जमींदार वर्ग का ठीक-ठीक चित्रण हो सकेगा।

हाकिम-जमींदार और किसान

अब हम उस वर्ग के चित्रण की ओर आते हैं जो भारतीय दासता और दरिद्रता का सबसे पुष्ट प्रमाण है, जिसमें राष्ट्र और समाज की सभी क्रियाएँ भिन्न-भिन्न दिशाओं से आ आकर केन्द्रित होती हैं और जिसका चित्रण कर भारतीय साहित्य में प्रेमचन्द ने अपना श्रेष्ठ स्थान पाया है।

किसान के जीवन के अनेक पहलू हैं। सामाजिक आचार-विचारों के निर्जीव बन्धनों से वह बुरी तरह जकड़ा हुआ है। उसकी धार्मिकता और उसका अन्ध-विश्वास भी उसके शोषण के कारण हैं। उसके शोषकों में जमींदारों के सिवा महाजन हैं जिनकी शोषक-क्रिया विश्व-इतिहास में अद्वितीय है। धर्म, परिवार और समाज को लेकर किसानों की समस्याओं पर दूसरी जगह लिखा जायगा। यहाँ अभी उनकी

युग-युगानुगत निर्धनता और उस निर्धनता से भी धन खींचनेवाले कुशल जमींदारी शोषण का ही चित्रण देखना है। साथ के महाजनी शोषण के लिए एक अलग ही अध्याय की आवश्यकता होगी।

कुछ दिन हुए गाँव-सुधार पर एक पुस्तक निकली थी जिसमें दीन कृषकों के लिए तरह-तरह के उपदेश थे। अन्धविश्वास, धन का अपव्यय, रीति-रिवाजों में सुधार आदि के सम्बन्ध में उन्हें सचेत किया गया था। परन्तु उनमें ये दोष किन परिस्थितियों के कारण हैं, इस पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ा था। ऐसे सुधारकों को लक्ष्यकर प्रेमचन्द ने बहुत पहले प्रेमाश्रम में लिखा था—'प्रेमशंकर अक्सर कृषकों की आर्थिक दुरवस्था पर विचार किया करते थे। अन्य अर्थ-शास्त्रवेत्ताओं की भाँति वह कृषकों पर फजूलखर्ची, आलस्य, अशिक्षा या कृषि-विधान से अनभिज्ञता का दोष लगाकर इस प्रश्न को हल न करते थे।' किसानों के इन दुर्गुणों के विपरीत प्रेमशंकर का अनुभव उन्हें बतलाता था— 'परिश्रमी तो इनसे अधिक कोई संसार में न होगा। मितव्ययिता में, आत्मसंयम में, गृह-प्रबन्ध में वे निपुण हैं। उनकी दरिद्रता का उत्तरदायित्व उन पर नहीं, बल्कि उन परिस्थितियों पर है, जिनके अधीन उनका जीवन व्यतीत होता है।' इन तमाम परिस्थितियों के मूल में 'वही संस्था है, जिसका अस्तित्व कृषकों के रक्त पर अवलम्बित है। आपस में विरोध क्यों है? दुरवस्था के कारण, जिनकी इस वर्तमान शासन ने सृष्टि की है। परस्पर प्रेम और विश्वास क्यों नहीं है? इसलिए कि यह शासन इन सद्भावों को अपने लिए घातक समझता है और उन्हें पनपने नहीं देता। इस परस्पर विरोध का सबसे दुःखजनक फल क्या है? भूमि का क्रमशः अत्यन्त अल्प भागों में विभाजित हो जाना और उसके लगान की अपरिमित वृद्धि।'

किसानों के शोषण के पूरे गोरख-धन्धे को प्रेमचन्द ने बहुत थोड़े में स्पष्ट कर दिया है। भूमि का छोटे-छोटे भागों में बँटना और उसके साथ लगान का बढ़ना—यही किसानों की दरिद्रता के सबसे बड़े कारण हैं।

प्रेमाश्रम जमींदारी शोषण का श्रेष्ठ उपन्यास है, जैसे गोदान महाजनी शोषण का। प्रेमाश्रम का आरम्भ हाकिम के दौरे से होता है। हाकिमों के अत्याचार जमींदारों के शासन का एक अंग हैं क्योंकि वे उसे स्थायी बनाये रखते हैं ! अमलों में सबसे पहले चपरासी किसानों के सम्पर्क में आते हैं। और अंग्रेज़ी हुकूमत में वह चपरासी ही क्या जो अफ़सर से बढ़कर हुकूमत न करे। प्रेमाश्रम के आरम्भ में प्रेमचन्द ने इन चपरासियों के सुन्दर रेखाचित्र खींचे हैं। एक हैं गिरधर महराज,—यह किसानों को घी के लिए रुपया बाँटने आये हैं। भाव है दस छटाँक का लेकिन दाम कटेंगे सेर भर के। लखनपुर के और किसानों ने रुपए लिये लेकिन मनोहर के यहाँ न भैंसे थीं, न घी था ; पास में रुपये भी न थे जो खरीद कर ही दिया जाता। गिरधर महाराज ने कहा—'जब जमींदार की जमीन जोतते हो तो उसके हुकुम के बाहर नहीं जा सकते।' परन्तु मनोहर में नयी किसान-चेतना फूट रही थी ; वह अपने अधिकार को पहचान रहा था। उसने विद्रोह किया,—'जमीन कोई खैरात जोतते हैं ! उसका लगान देते हैं। एक किस्त भी बाकी पड़ जाय तो नालिस होती है।' बाद में यह विद्रोह मनोहर के लिए ही नहीं सारे गाँव के लिए घातक सिद्ध होता है। मनोहर की इस आवाज़ को दबाने के लिए जमींदार अपनी सारी शक्ति लगा देता है, लखनपुर के कच्चे मकानों को मिट्टी में मिला देता है परन्तु विद्रोह का यह स्वर फिर भी नहीं दबता,—केवल अभी वह अकेला है, आगे

चलकर उसमें और भी स्वर सम्मिलित हो जाते हैं।

मनोहर आदर्शवादी न था, न वह समाजवाद पर घर में बैठे पुस्तकें ही पढ़ रहा था। 'ऐ किसान उठ' कहना कितना सरल है, उठना कितना कठिन इसको वह जानता था। चपरासी से लड़कर उसका जी दुविधा में पड़ गया। न जाने अब क्या हो ? गाँव भर के लोग अमलों के कृपापात्र होने के लिए स्वभावतः ऐसे विद्रोहियों के शत्रु हो जाते हैं। रात को वह चौके में बैठा भोजन कर रहा था; कोठरी में मिट्टी के तेल का धुआँ इतना भर गया था कि उससे दिये की जोत मद्धी पड़ गई थी। बथुए की भाजी और जौ की रोटी वह ऐसे खा रहा था, जैसे दवा पी रहा हो। 'इतनी ही रुचि से वह घास भी खाता।' लेकिन उसका लड़का बलराज अभी जीवन-चक्र में न पड़ा था। वह उस आदर्शवाद से प्रभावित था जो सहज ही किसी स्वस्थ नवयुवक में पाया जाता है। मनोहर और बलराज गाँव के आदर्श और यथार्थवाद हैं और आगे चलकर यथार्थवादी मनोहर ही अधिक क्रांतिकारी सिद्ध होता है। उसकी छाती चौड़ी और भरी हुई नहीं है परन्तु उसकी हड्डियों में क्रांति की ज्वाला बसी हुई है।

जमींदार के नीचे इलाके के अफसर कारिंदा थे। लगान-वसूली की मशीन में इनका महत्त्व का स्थान है। लखनपुर के कारिंदा गौस खाँ थे। प्रभाशंकर के समय में वह दबे रहते थे; ज्ञानशंकर में उन्हें अपना मनमाना मालिक मिल गया और इसलिए किसानों पर मनमाना अत्याचार भी होने लगा। लगान वसूल करने में अबकी उन्होंने कौड़ी भी न छोड़ी। नालिश और कुर्की से आसामियों को चौपट कर दिया, जिनके पास शिकमी ज़मीन थी, वह उनसे लेकर दूसरों को लगान पर उठा दी। और खेतों पर लगान बढ़ाने के वह नये नये

उपाय सोचने लगे। 'सारे इलाके में हाहाकार मच गया। कर वृद्धि के पिशाच को शांत करने के लिये लोग नाना प्रकार के अनुष्ठान करने लगे। प्रभात से संध्या तक खाँ साहेब का दरबार लगा रहता। वह स्वय मध्य में मसनद लगाकर विराजमान होते। मुंशी मौजीलाल पटवारी उनके दाहिनी ओर बैठते और सुक्खू चौधरी बायीं ओर।' जैसे-जैसे गौस खाँ का अत्याचार बढ़ा वैसे ही वैसे पाप के शमन के लिए उनकी धार्मिकता भी बढ़ी। 'खाँ साहेब पहले अपने अवकाश का समय भोग विलास में व्यतीत किया करते थे। अब यह समय कुरान का पाठ करने में व्यतीत होता था।' और उन्हें शीघ्र मालूम हुआ कि किसानों को विद्रोही समझने में उन्होंने भारी भूल की थी। उनकी चौखट पर सभी ने सर नवाया था। गाँव में दस बारह घर ठाकुरों के थे; इजाफा लगान की खबर पाते ही वे भी ढीले पड़ गये। दुखरन भगत शिवजी को जल चढ़ाने के पहले खाँ साहब को सलाम कर जाते थे। एक मनोहर अब भी अपने विद्रोह को जगाये हुए था।

मनोहर पर ज्ञानशंकर की डपट का उल्टा ही असर पड़ा। ज्ञानशंकर के शब्दों ने उसे दबाया नहीं, वरन् उसके आत्मसम्मान को चोट पहुँचाकर उसके विद्रोह को उच्छृङ्खलता में परिणत कर दिया। 'विकृत भावनाएँ उसके हृदय और मस्तिष्क में गूँजा करती थीं। एक मर्माहत पक्षी था, जो घावों से तड़प रहा हो। वह अपशब्द उसे एक क्षण भी न भूलते थे। वह ईंट का जवाब पत्थर से देना चाहता था। यह वह जानता था कि सबलों से बैर बढ़ने में मेरा ही सर्वनाश होगा, किंतु इस समय उसकी अवस्था उस मनुष्य की सी हो रही थी, जिसके झोंपड़े में आग लगी हो और वह उसके बुझाने में असमर्थ होकर शेष भागों में भी आग लगा दे कि किसी प्रकार इस विपत्ति का अंत

तो हो।' इसलिए कारिंदा या चपरासी के निकलने पर वह खाट पर बैठा होता तो पैर फैलाकर लेट जाता। सावन में आम पके तो जमींदार को एक भी न भेजा। सुक्खू चौधरी और गौस खाँ को जलाने के लिए रात को गाना-बजाना किया करता। परन्तु बलराज अखबार पढ़ता था; उसने रूस के बारे में भी पढ़ा था कि वहाँ किसानों और मजूरों का राज है। वह अभी आदमी को आदमी समझता था, इसलिए उसने सोचा, एक बार हाकिम से फरयाद करने पर गाँववालों के सभी दुख दूर हो जायँगे।

जिनसे बलराज फर्याद करना चाहता था, उन मनुष्येतर प्राणियों का प्रेमचद ने इस प्रकार वर्णन किया है—'जिस भाँति सूर्यास्त के पीछे एक विशेष प्रकार के जीवधारी, जो न पशु हैं न पक्षी, जीविका की खोज में निकल पड़ते हैं, अपनी लम्बी श्रेणियों से आकाश-मण्डल को आच्छादित कर देते हैं, उसी भाँति कार्तिक का आरंभ होते ही एक अन्य प्रकार के जंतु देहातों में निकल पड़ते हैं और अपने खेमों तथा छोलदारियों से समस्त ग्राम-मंडल को उज्ज्वल कर देते हैं। वर्षा के आदि में राजसिक कीट और पतंग का उद्भव होता है, उसके अन्त में तामसिक कीट और पतग का। उनका उत्थान होते ही देहातों में भूकम्प-सा आ जाता है और लोग भय से प्राण छिपाने लगते हैं।' अधिकारी लोग दौरे सदिच्छाओं से ही करते हैं परन्तु पानी में जैसे किरणें टेढ़ी हो जाती हैं वैसे ही देहात में आते ही उनकी सदिच्छाएँ विषमय हो जाती हैं। जिन चीज़ों के लिए शहर में तरस-तरसकर रह जाते थे, उन्हें यहाँ बिना जीभ डुलाये ही सामने पाते हैं। जितना खा सकते हैं, खाते हैं, बार-बार खाते हैं और जो नहीं खा सकते वह घर भेजते हैं। घरवाले हर्ष से फूले नहीं समाते, अपने

भाग्य को सराहते हैं क्योंकि अब दुःख के दिन गये और सुख के दिन आये। उनकी तरी वर्षा के पीछे आती है, वह खुश्की में तरी का आनन्द उठाते हैं।

लखनपुर में डिप्टी ज्वालासिंह का दौरा हुआ तो उनके चपरासी आकर डपटसिंह के पेड़ की लकड़ियाँ उठा ले गये। जाड़े के दिन, बिना आग के बिचारा डपटसिंह ठिठुरने लगा। कादिर मियाँ ने बकरीद के लिए बकरा पाल रखा था; वह भी हाकिम की बलिवेदी पर पहुँचा दिया गया! बिसेसर साह की पसारी की दूकान थी, उनके तो सैकड़ों के वारे-न्यारे होते थे। उस कमी को वह गाँववालों को ठगकर, ब्याज पर रुपए आदि देकर पूरा करते थे। एक बटोही गाड़ी में बुढ़िया मा को अस्पताल लिये जा रहा था, चपरासियों ने जबरन उसकी गाड़ी खालीकर उस पर लकड़ी लादीं। इस सब महतामथ के बाद ज्वालासिंह के चपरासी चपरास के बल पर गाँव की भैंसों से दूध निकालने चले। इसी बात पर आदर्शवादी बलराज से उनकी कुछ कहासुनी हो गई। एक चपरासी ने कहा—'मालूम होता है सिर पर गरमी चढ़ गई है, तभी इतना ऐंठ रहा है। इसे लश्कर ले चलो, तो गरमी उतर जाय।' मर्माहत युवक ने उत्तर दिया—'मियाँ हमारी गरमी पाँच-पाँच रुपल्ली के चपरासियों के मान की नहीं है, जाओ, अपने साहेब बहादुर के जूते सीधे करो, जो तुम्हारा काम है, हमारी गरमी के फेर में न पड़ो, नहीं तो हाथ जल जायँगे।' चपरासी ने गौस खाँ की शरण ली; गौस खाँ ने गाँववालों को डाट बताई। फलस्वरूप मनोहर ने बलराज को डाँटा। चपरासियों का यह सब पर छाया आतंक बलराज को असह्य हो उठा, साथ ही गाँववालों के हृदय में समाये भय का भी उसे कुछ-कुछ बोध हुआ।

सवेरे बलराज ज्वालासिंह के खेमें में गया, जहाँ लकड़ी के अलाव जल रहे थे, चाय का पानी गरम हो रहा था, बूचड़ माँस काट रहा था और बिसेसर साह सामान तौल रहे थे। हाकिमी के इस प्रपंच को देखकर बलराज का आदर्शवाद पहले ढीला पड़ा। चपरासियों की शिकायत करना दूर रहा, उसने बात शुरू की, यह कहकर, हुजूर को कितनी गाड़ियों की ज़रूरत है। ज्वालासिंह ने सरिश्तेदार के पास जाने को कहा। जब बलराज ने चपरासियों के अँधेर की बात कही तो डिप्टी साहब ने कहा कि उन्हें इस दर्दसिर की फ़ुर्सत नहीं। निदान बलराज परमात्मा को याद करता चला आया। जमींदार-हाकिम एक तरफ और बलराज एक तरफ,—दोनों के संघर्ष का बलराज को यह पहला अनुभव हुआ और आत्मनिर्भरता की आवश्यकता का भी उसे कुछ भान हुआ।

ज्वालासिंह में थोड़ी-सी मनुष्यता बाकी थी जिसके कारण बाद में उन्होंने नौकरी से इस्तीफा भी दे दिया। बलराज की बातों का उनके ऊपर कुछ प्रभाव पड़ा और उन्होंने चपरासियों से पूछताछ की। परंतु वह मनुष्यता का प्रकाश क्षणिक था। एक चपरासी ने सुझाया कि बिना आसामियों पर सख्ती किये हाकिम की बेरोबी होती है। दूसरे ने जड़ा कि डिप्टी साहब को हिंदुस्तानी समझकर ही लोग दिलेरी करते हैं। पादरी साहब के सामने हाथ बाँधे सारा गाँव खड़ा रहा था। और इस वातावरण में आवश्यक हो गया कि ज्वालासिंह अपनी मर्यादा बढ़ाने के लिए अपने अत्याचार को बहाल रखें। यही नहीं गाँववालों को सताने के लिए, उन्होंने एक दूसरे नाटक का सूत्रपात किया, चपरासियों पर गाँव वालों के फ़र्जी आक्रमण की जाँच करने के लिए उन्होंने ज्ञानशंकर के भतीजे सब इंस्पेक्टर दयाशंकर को नियुक्त कर दिया।

दयाशंकर सिपाहियों के साथ लखनपुर पधारे। गाँव के आदमी हाज़िर हुए। बलराज नीलगायें भगाने गया था। जब थोड़ी देर में आया तो दो सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया और दोनों ने बढ़कर उसकी मुश्कें कसनी चाहीं। बलराज ने एक बार मनोहर की ओर देखा—'यह अपमान मुझसे नहीं सहा जा सकता। मैं अब जान पर खेलता हूँ। आप क्या कहते हैं?' दीन यथार्थवादी मनोहर बेटे की यह दशा देख कर पागल-सा हो गया। 'कुछ न सूझा कि मैं क्या कर रहा हूँ। बाज की तरह टूटकर बलराज के पास पहुँचा और दोनों कान्सटेबलों को धक्का देकर बोला, छोड़ दो, नहीं तो अच्छा न होगा। इतना कहते-कहते उसकी जबान बन्द हो गई और आँखों से आँसू निकल पड़े।' दीनता को तोड़कर जो विद्रोह उठा था वह अपनी ही ढिठाई पर चकित रह गया; फिर अपनी निर्बलता का ज्ञान हुआ और सारी परिस्थिति उसकी समझ में पूरी-पूरी तरह आ गई।

गांधीवादी कादिर ने जाकर दयाशंकर के कान में कुछ कहा सुना। दयाशंकर ने सिपाहियों को मना कर दिया और आदमियों के बयान लिखने लगे। मनोहर को हिरासत में लेने के लिए कोई प्रमाण न मिल सका। लेकिन बलराज का छूटना कारिन्दा गौस खाँ की हार थी। मनोहर को रात में खबर मिली कि दारोग़ा साहब ने गाँव के मुखिया लोगों को बुलाया है, उनसे बयान बदलने को कह रहे हैं और न बदलने पर मुचलका लेने की धमकी दे रहे हैं। कादिर खाँ ने घूम-घूमकर किसी तरह लोगों को बयान न बदलने के लिए साधा। इधर गौस खाँ ने दयाशंकर को साधा। मस्जिद बनवाने के लिए ज़मीन मे जो रुपये गाड़ रखे थे, उन्हें गाँव में अपनी मर्जाद बनाये रखने के लिए दयाशंकर को अर्पित किया। फल यह हुआ कि आसामी

फिर तलब हुए, सबके बयान फिर हुए और सबसे सौ-सौ के मुचलके लिये गये। गौस खाँ ने सोचा, गाँव में हमारा रोब है तो न जाने ऐसे कितने रुपये और पैदा हो जायँगे।

इसके बाद ज्ञानशंकर ने लखनपुर के आसामियों पर इजाफा-लगान का दावा किया इससे गाँववालों को बड़ा क्रोध आया और क़ादिर आदि जो नरम दल के लोग थे, वे भी उग्र हो उठे। सबने तै किया कि डटकर जमींदार का विरोध करना चाहिये। इसी समय ईश्वर ने भी जमींदार का साथ दिया और गाँव में प्लेग फैल गया। नदी को लाशें ले जाना, और कचहरी भी पहुँचना,—गाँववालों की बुरी दशा थी। डपटसिंह का एक लड़का मर चुका था; जब ज्वालासिंह के साथ प्रेमशंकर वहाँ पहुँचे, तो दूसरे लड़के के मरने की तैयारी थी। डपटसिंह ने प्रेमशंकर को देखा तो पागल-सा हो गया। बोला—'क्या जाफ़ा वसूल करने आये हो? उसी से लीजिये जो वहाँ धरती पर पड़ा हुआ है। वह आपकी कौड़ी-कौड़ी चुका देगा। गौस खाँ से कह दीजिये, उसे पकड़ ले जायँ, बाँधें, मारें, मैं न बोलूँगा। मेरा खेती-बारी से, घर-द्वार से इस्तीफा है।' घर-द्वार में कुछ रह न गया था; जब इस दूसरे लड़के की लाश उठने को हुई तो कफन के लिए पैसे न थे। हाँड़ी-तवा सब मुक़दमें में पहले ही गिरों रखा जा चुका था।

कुछ ज्ञानशंकर से वैमनस्य के कारण, कुछ लखनपुर की दशा देखकर ज्वालासिंह ने मुक़दमा खारिज कर दिया यद्यपि ज्ञानशंकर ने अपनी जीत के लिए ज्वालासिंह पर हर तरह का दबाव डालने में कोई कसर नहीं रखी। ज्वालासिंह की अदालत से मुकदमा खारिज होने पर ज्ञानशंकर ने हाईकोर्ट में अपील की। वह अपील भी खारिज हो गई।

गाँववालों की विजय हुई परन्तु इस लम्बी लड़ाई में वे चूर हो गये। प्लेग से तमाम घर उजड़ चुके थे। आग, चोरी, आँधी, पाला आदि अन्य व्याधियाँ थीं जिनसे आसामी पीड़ित थे। क़र्ज़ का अब कोई सहारा न था; स्त्रियों के गहने सब निकल चुके थे। गाँव में सुक्खू चौधरी रुपये दे सकते थे परन्तु वह जमींदार के विरुद्ध देना न चाहते थे। और जब ज्ञानशंकर की अपील खारिज हो गई तो उन्होंने गाँववालों को उनकी विजय का मज़ा चखाने का निश्चय किया।

पहले कारिंदा गौस खाँ ने अपना क्रोध उन झोंपड़ियों पर ही उतारा जिन्हें प्लेग के कारण गाँव छोड़कर लोगों ने जमींदार की बाग में बनाया था। इनमें आग लगा दी गई और लोगों को विवश होकर गाँव में लौट आना पड़ा। इसके बाद जमींदार के ताल का पानी रोक दिया गया। गर्मी के दिनों में कुओं में पानी पाताल चला गया था और गढ़े और तालाब सूख गये थे। पशु और मनुष्यों को जमींदार के इस ताल का ही सहारा था। पानी रोकने पर गाँववाले फिर इकट्ठे हुए और अबकी सुक्खू चौधरी को भी ताव आ गया। उन्होंने गौस खाँ पर दावा कर दिया और जीत भी गये। ताल पर पक्के घाट की नींव पड़ गई।

इसका बदला गौस खाँ ने दूसरी तरह लिया। नये दारोगा नूर-आलम से प्रेम-परिचय पैदाकर उन्होंने सुक्खू के यहाँ कोकीन बरामद कराई और सुक्खू को दो साल की सज़ा हो गई। इसी वक्त लखनपुर में पुलिस के एक बड़े अफ़सर का आगमन हुआ। वह इतने बड़े थे कि स्वयं तहसीलदार उनके लिए रसद का प्रबन्ध करने आये। चमार घोड़ों के लिये घास छीलने लगे; कहार कर्मचारियों की सेवा में लग गये। और गाँव के जो ऊँची जाति के लोग थे, वे बास

छीलकर टेनिस क्लब बनाने के लिए बुलाये गये। घास तो किसी तरह छिली, अब टेनिसकोर्ट लीपने को कहा गया। डोल और रस्सी मँगाई गई। कादिर डोल लेकर कुएँ की तरफ चले परन्तु दुखरन भगत घर की तरफ बढ़े। तहसीलदार से कहासुनी हुई, नतीजा यह हुआ कि चपरासी ने धक्का देकर उन्हें जूते लगाना शुरू किया। कादिर खाँ कुएँ से दौड़कर आये और चपरासी के आगे अपना सिर कर दिया। चपरासी ने उन्हें भी धक्का दिया और मारने के लिए जूता उठाया। अहिंसावाद का नाटक एक भयानक पल्टा खाने ही वाला था कि इक्के पर से आते प्रेमशंकर ने चपरासी को ललकारा। इसके बाद तहसीलदार से दो-चार तेज बातें हुईं। इतने में चमार भी इकट्ठे हो गये जिन्हें मजूरी न मिली थी। प्रेमशंकर की बातचीत का फल यह हुआ कि सिपाहियों ने बन्दूकों के कुन्दों से चमारों को मारा। प्रेमशंकर को जब कुछ न सूझा तब विवश हो लोगों की जान बचाने के लिए उन्होंने सलाह दी कि काम करो। लोगों ने इतना अपमान सहा, मार खाई, फिर हाकिम का काम भी किया। तहसीलदार ने दया करके दुखरन भगत को, प्रेमशंकर के कहने से, घर जाने की आज्ञा दे दी। दुखरन ने घर आकर अपना क्रोध शालिगराम की बटिया पर उतारा। उठाकर उसे एक ओर फेंक दिया। सवेरे जब खेमा उठा तो तहसीलदार ने मुसकराकर प्रेमशंकर से कहा—'हम लोग एक तौर पर आपके मददगार हैं, रिआया को सताकर, पीसकर मजबूत बनाते हैं और आप जैसे कौमी हमदर्दों के लिये मैदान साफ करते हैं!'

गौस खाँ के लिए यह नव दैवी सहायता थी। इसके बाद जमींदार की जमीन में लोगों को गोरू चराने से रोका। यहीं से

लखनपुर के असामियों ने अपने नाटक का दूसरा अंक आरम्भ किया। मनोहर की स्त्री गोरू लिये चरावर आ रही थी कि चपरासियों ने रोका। बिलासी ने विरोध किया। इतने में वहाँ गौस खाँ भी आ गया। बिलासी से कहासुनी हुई और गौस खाँ ने जानवरों को घेरकर कानी-हौज भेजने का हुक्म दिया। बिलासी ने रास्ता रोक लिया। अपने परिवार में वह सबसे कम उम्र थी परन्तु इस समय बोली—'कहे देती हूँ, इन जानवरों के पीछे लोहू की नदी बह जायगी। माथे गिर जायँगे।' फैजू चपरासी ने कहा—'हटती है या नहीं चुड़ैल !' बिलासी ने उसी मात्रा में उत्तर दिया—'तू हट जा, दाढ़ीजार !' इसके बाद फैजू ने अपनी सम्मान-रक्षा के लिए बिलासी को पकड़कर ज़ोर से धक्का दिया और वह जमीन पर गिर पड़ी। 'एक क्षण वह वहीं अचेत पड़ी रही, तब उठी और लँगड़ाती हुई उन पुरुषों से अपनी अपमान-कथा कहने चली, जो उसके मान और मर्यादा के रक्षक थे।'

पुत्र और पति के पास बिलासी रोती हुई आई। बलराज लठ लेकर उसी समय चलने को खड़ा हुआ परन्तु मनोहर ने उसे रोका। उसने अपमान का बदला लेने के लिए और भी दृढ़ संकल्प किया। दो पहर रात बीत जाने पर उसने मनोहर से कहा—'अच्छा, तो अब राम का नाम लेकर तैयार हो जाओ, डरने या घबराने की कोई बात नहीं। अपनी मरजाद की रक्षा करना मरदों का काम है। ऐसे अत्याचारों का हम और क्या जवाब दे सकते हैं ! बेइज्जत होकर जीने से मर जाना अच्छा है।' मनोहर उजड्ड देहाती आदमी था; मरजाद को जीवन से बढ़कर समझता था। कोई नेता होता तो उसे समझाता, तुम्हारा दुख देखकर एक बार शत्रु का हृदय परिवर्तित हो जायगा। परन्तु मनोहर को कैसे विश्वास आता कि गौस खाँ का हृदय भी बदल

जायगा। और जब स्त्री की मरजाद की रक्षा न हो सकी तब हृदय-परिवर्तन से लाभ क्या !

आदर्शवादी बलराज ने मनोहर को बहुतेरा मना किया : वह स्वयं जान पर खेलकर बाप को बचाना चाहता था, मनोहर उसके विपरीत मरजाद की वेदी पर अपने को होम कर पुत्र को बचाना चाहता था। बलराज के पैर काँप रहे थे। मनोहर ने समझाया,—'कोई परवाह नहीं, कुल्हाड़ा हाथ में लोगे तो सब ठीक हो जायगा। तुम मेरे बेटे हो, तुम्हारा कलेजा मजबूत है। तुम्हें अभी जो डर लग रहा है, वह ताप के पहले का जाड़ा है। तुमने कुल्हाड़ा कंधे पर रक्खा, महाबीर का नाम लेकर उधर चले तो तुम्हारी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगेंगी।'

किसान-जमींदार संघर्ष का यह क्लाइमैक्स था ; यहीं से नाटक की घटनाएँ तेजी से एक ओर बढ़ चलती हैं। चारों ओर से घेरे जाने पर मनोहर के लिए और कोई चारा नहीं। बिलासी ने भी हारे पर ही गोरू खेदने का विरोध किया था। किसान को अपने गाय-बैल अपने परिवार से ही प्यारे होते हैं। बिलासी के लिए गोरुओं का रोकना वैसा ही था, जैसे उसके मुँह का कौर छीनना। मनोहर की प्रतिहिंसा का फल वही हुआ जिसकी कोई भी नेता उसे पहले से चेतवनी दे सकता था। प्रतिहिंसा से अत्याचार कम न होकर बढ़ता ही है। शत्रु अपनी पूरी शक्ति से दमन करना आरंभ करता है और उस समय निरीह प्राणियों के नाश के अतिरिक्त उनका कुछ भला नहीं हो सकता। मनोहर ने यह सब अपनी आँखों देखा और गाँववालों की विपत्ति देखकर उसकी सरल आत्मा ने उसे धिक्कारा भी।

ज्ञानशंकर तो गाँव वालों से बदला लेना ही चाहते थे ; उनके

हाथ में शक्ति थी, उन्हें कौन समझाता, प्रतिहिंसा पाप है। पुलिस को मिलाकर उन्होंने एक विशाल षड्यन्त्र खड़ा कर दिया। इस षड्यंत्र को पूरा करने में उन्होंने अपने भाई प्रेमशंकर को भी न छोड़ा। प्रभाशंकर ने उधार काढ़कर प्रेमशंकर की जमानत की और किसी तरह उन्हें छुड़ाया। गाँव के महाजन बिसेसर साह ने झूठी मुखबिरी की। डाक्टर ने ज्ञानशंकर के प्रलोभन देने पर रिपोर्ट दी कि हत्या कई आदमियों ने की है। गाँववालों का क्रोध उतरा मनोहर पर। औरों की तो बात क्या ; बलराज ने भी कहा—'न जाने उनके सिर कौन-सा भूत सवार हो गया ! गुस्सा हमें भी आया था ; लेकिन उनको तो जैसे नशा चढ़ जाय।' तब गाँव के सबसे कम उम्र व्यक्ति कादिर खाँ ने न्याय का पक्ष लेकर लोगों की स्वार्थ-वृत्ति की भर्त्सना की। 'यारो ! ऐसी बातें न करो, बेचारे ने तुम लोगों के लिए, तुम्हारे हक की रक्षा करने के लिए यह सब कुछ किया। उसके जीवट और हियाव की तारीफ तो नहीं करते और उसकी बुराई करते हो ! हम सब के सब कायर हैं, वही एक मर्द है।' प्रेमचन्द ने कादिर खाँ में एक गाँधीवादी सहिष्णु मनोवृत्ति के व्यक्ति का चित्रण किया है, फिर भी कादिर खाँ से उन्होंने ये शब्द कहलाये हैं, जो एक गाँधीवादी के लिए अनुपयुक्त हैं। मनोहर के प्रति देश के गाँधीवादियों का तो वह दृष्टिकोण होगा जो बलराज, रूपसिंह, दुखरन इत्यादि का है। इन सब पर कादिर से कायरता का आरोप लगवाकर मनोहर और उसके आलोचक,—दोनों के ही प्रति प्रेमचन्द ने अपनी धारणा स्पष्ट कर दी है।

लोगों के ताने मनोहर के हृदय में छिद गये। वह गाँववालों से दूसरे व्यवहार की आशा रखता था। निराश होकर अपनी स्त्री की यन्त्रणा का विचारकर उसने आत्महत्या कर ली। उसकी हत्या का

केवल एक कारण था,—उसके साथियों की असहानुभूति।

गाँव में सचमुच मनोहर की स्त्री, बिलासी को सब के ताने सुनने पड़ते थे। पर एक दिन एक आदमी उसे भी सांत्वना देने आया। सुक्खू चौधरी जिनके घर में कोकीन खोजकर पुलिस ने जाली मुकदमा खडा किया था, जेल से छूट आये थे। मनोहर के बारे में किसी को भ्रम न रहे, इसलिए घर बार छोड़े हुए वीतराग संन्यासी सुक्खू चौधरी के मुँह से प्रेमचन्द ने फिर मनोहर के कार्य की प्रशंसा कराई है। 'इस मन्दिर में अब उसकी समाधि बनेगी और उसी की पूजा होगी।...उसको बुरा वही कह सकता है जिसकी आत्मा मर गई है। जो बेहया हो गया है। गाँव के दस पाँच पुरुष फाँसी चढ़ जायँ तो कोई चिन्ता नहीं। यहाँ एक एक स्त्री के पीछे लाखों सिर कट गये हैं!'

मुकदमे का फैसला हुआ। बलराज और कादिर खाँ को कालापानी हुआ। बाकी अभियुक्तों को सात-सात वर्ष की कड़ी कैद।

गाँव के आदमी जेल में थे; घर के लोगों का स्वभावतः बुरा हाल था। फैजुल्लाह खाँ नये कारिंदा बने थे। उनका विरोध करने-वाला कोई था नहीं; गाँव उनका, उनके बाप का। बिलासी पर उन्होंने बकाया लगान का दावा किया और वही गोरू जिनके पीछे बिलासी ने सारा आन्दोलन खड़ा किया था, कुड़क कर लिये गये। यही नहीं, स्वयं बिलासी, जिसके जमीन पर गिरने से मनोहर ने एक आदमी का खून कर दिया था, वह बिलासी भी चपरासियों द्वारा बुरी तरह पीटी गई। जिस मरजाद के लिए मनोहर ने आत्महत्या की, उसी की बहू की मरजाद उतारने के लिए चपरासी उसके घर में घुसे। परिस्थिति क्या इससे अधिक व्यंग्यपूर्ण हो सकती थी! जमींदारी शासन ने अपनी प्रतिहिंसा पूरी तरह तृप्त की। उसने मनोहर और

उसके साथ के अन्य निरीह पापियों को ही नहीं कुचल दिया, वरन् जिस बात को लेकर एक किसान ने विद्रोह किया था, वही पाप सौगुने वेग से प्रचण्ड होकर उसके परिवार के माथे पर गाज की तरह आ गिरा। एक मनुष्य जो अपनी स्त्री की मर्जाद बचाना चाहता है, उसको कुचलने के लिए जमींदारी वर्ग की शक्ति, और डाक्टर और वकील और अदालत और पुलिस,—महाजनी सभ्यता की कितनी बड़ी सेना एक साथ सक्रिय हो उठती है!

गाँव की फसल सूख गई थी। लगान के लिए फैजुल्लाह लोगों को धूप में खड़ा करते, किसी को मुश्कें कस कर पिटवाते, स्त्रियों में किसी की चूड़ियाँ तोड़ी जातीं, किसी के जूडे नोचे जाते। फैजुल्लाह जानता था, इनके पास पैसे नहीं हैं, परन्तु अत्याचार से उसकी पशु-वृत्ति सन्तुष्ट होती थी। इन अत्याचारों के सामने किसानों को असहाय देख विवश हो प्रेमचन्द ने लिखा है—'इन अत्याचारों को रोकनेवाला अब कौन था! सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो गया।' और इस परिणाम के साथ यह नाटक एक तरह से समाप्त हो जाता है। यदि 'प्रेमाश्रम' सम्वत् १९७८ में न लिखा जाकर बारह बरस बाद लिखा गया होता तो शायद वह इसी वाक्य से समाप्त हो जाता परन्तु प्रेमचन्द को उसे सुखान्त बनाना था; उनका आदर्शवाद संघर्ष के इस कटु परिणाम के लिए तैयार न था। दूसरे शब्दों में उस समय की जनता बिना इस आदर्शवाद के मुलम्मे के इस नग्न यथार्थता को देखने के लिये तैयार न थी। प्रेमचन्द ने अपने युग की माँगों के अनुसार उसे सुखांत बना दिया है। अभि-युक्त अपील में जेल से छूट जाते हैं, उनका जलूस निकलता है और बाद में मायाशंकर अपनी रियासत छोड़ देते हैं; सहकारिता में खेती

होने से किसानों के लिए रामराज हो जाता है। परन्तु यह सुख का अन्त किसी को भुलावे में नहीं डाल सकता। संतोष के लिए केवल इतना कह सकते हैं कि इसकी भी सम्भावना है। हम जानते हैं सभी मायाशंकर होकर अपनी रियासत नहीं छोड़ सकते, इसलिए मनोहर की आत्महत्या और विलासी की यंत्रणा,—ये यथार्थ के अन्तिम चित्र हृदय पर अमिट खिंचे रह जाते हैं। प्रेमचन्द की महत्ता इसमें है कि जमींदारी-वर्ग के शासन की नृशंसता का उन्होंने इहना वृहत् और सर्वाङ्ग चित्र खींचा है। चपरासी से लेकर मालिक ज्ञानशंकर तक, एक भारी यन्त्र जैसे किसानों की छाती पर शासन कर रहा है; और प्रेम-चन्द ने उसके सभी कल-पुर्जों की क्रिया की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उसकी अमानुषिकता, नीरस बर्बरता को उन्होंने छिपाया नहीं है। और यह मानना पड़ेगा कि आदर्शवादी अन्त के होते हुए भी उन्होंने जमींदारी से समझौता नहीं किया। लोग सुख की साँस तभी लेते हैं जब उसका समूल नाश हो जाता है।

कर्मभूमि में प्रेमचन्द ने लगान-बन्दी आन्दोलन का वर्णन किया है। इसके किसान नेता आज की किसान-सभा के नेताओं से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। सन् '२६ की मन्दी से देश के सभी वर्ग आर्थिक संकट में थे; किसानों की तो और भी दुर्दशा थी। चीज़ें सस्ती हो गई थीं; रुपये का माल तिहाई-चौथाई में बिक रहा था। लगान चुकाना असम्भव हो रहा था; जमींदार महन्त के अमलों ने प्रजा पर अत्याचार करना शुरू किया। प्रजा ने विद्रोह किया और उसे कुचलने के लिए जमींदार ने राजशक्ति का सहारा लिया; राजशक्ति ने उच्चवर्ग से सहानुभूति दिखाते हुए शान्ति-रक्षा के लिए अपनी बर्बरता का और भी क्रूर प्रदर्शन किया।

किसान-नेता आत्मानन्द का तर्क बहुत सीधा था। 'तुम्हारी थाली की रोटी तुमसे कहे मुझे न खाओ, तो तुम मानोगे ?' जब रोटी की बात न मानोगे तो जमींदार ही तुम्हारी बात क्यों मानने लगे ? जमींदार जमींदार इसलिए हैं, कि तुम लगान देनेवाले किसान हो। आत्मानन्द ने कहा किसानों को महन्तजी का ठाकुरद्वारा घेर लेना चाहिये और जब तक वह लगान बन्द न करें, उनका कोई उत्सव न होने दिया जाय। दूसरे नेता अमरकान्त ने इस बात का विरोध किया और पहले महन्तजी से प्रार्थना करना उचित समझा। महन्त जी ने कहा, सरकार जितनी मालगुज़ारी छोड़ देगी, उतना ही वह लगान छोड़ देंगे। लोगों ने इस आश्वासन पर थोड़ा-बहुत लगान देना शुरू किया परन्तु छूट का कहीं नाम नहीं। लोग ऊबने लगे और फिर सभाएँ होने लगीं। एक अफ़सर ने अमरकान्त को समझाया—'भला छः महीने तो गुज़रने दीजिये। अभी हम काश्तकारों की हालत की जाँच करेंगे, उसकी रिपोर्ट भेजी जायगी, रिपोर्ट पर ग़ौर किया जायगा, तब कहीं हुक्म निकलेगा।' अन्त में अमरकान्त को भी लगान-बन्दी के लिए आवाज़ लगानी पड़ी।

सलीम ने अमर को पकड़ने के पहले उसे लगान-बंदी से रोकने की चेष्टा की। लगानबंदी के परिणाम का चित्र उसके सामने खींचा। 'गाँव के गाँव बरबाद हो जायँगे, फ़ौजी कानून जारी हो जायगा, शायद पुलीस बैठा दी जायगी, फ़स्लें नीलाम कर दी जायँगी, ज़मीनें ज़ब्त हो जायँगीं। क़यामत का सामना होगा।' लेकिन अमरकांत नहीं माना और लोगों को क़यामत का सामना करना ही पड़ा।

अमरकांत के पिता लाला समरकांत जब उस इलाके में गये तब वहाँ का बुरा हाल था। सिपाही और सवारों का राज्य था। पाँच

आदमी से ज्यादा एक जगह जमा न हो सकते थे, न आठ बजे के बाद रात में कोई घर से निकल सकता था। न जाने कितने घर जला दिये गये थे और किसान बेचारे पेड़ों के नीचे बाल बच्चों के साथ पड़े हुए थे। स्वामी आत्मानंद अधजली पाठशाला में डेरा डाले थे। आदमी इकट्ठे होते, सवारों को आता देख, फिर इधर-उधर भाग जाते। लाला समरकांत का आदमियों ने स्वागत किया। कोई खटका न रहने से पुलीस आज विश्राम कर रही थी। इसलिए आदमी घरों से निकल आये। 'किसी के सिर में पट्टी बँधी थी, किसी के हाथ में। कई लँगड़ा रहे थे।' गूदड़ ने बताया, सरकार बारह आने वसूल करने पर लगी है: किसान कहते हैं, है ही नहीं, दें कहाँ से! बहुत लोग गाँव छोड़कर भाग गये हैं। एक बुढ़िया थी, सलोनी। जब लोगों पर हंटर पड़ रहे थे तब इस बुढ़िया से न रहा गया। कुछ न बना तो अफसर के मुँह पर थूक दिया। अफ़सर ने इतने हंटर जमाये कि वह अचेत होकर गिर पड़ी और जब तक वह गिर न पड़ी, तब तक हर हंटर पर गाली देती रही। समरकांत ने देखा, 'सलोनी की सारी देह सूज उठी है और साड़ी पर लहू के दाग़ सूखकर कत्थई हो गये हैं।' दमन का यह चित्र देख सूदखोर समरकांत का भी दिल दहल उठा। उन्होंने अपना क्रोध ईश्वर पर उतारा। अगर उसकी यही लीला है, तो वह पशु से भी गया बीता है।

घटना चक्र में पड़कर सलीम को नौकरी से इस्तीफ़ा देना पड़ा। समरकांत के समझाने-बुझाने से उसने गाँवों की ऐसी रिपोर्ट दी जिससे सरकार उससे असन्तुष्ट हो गई और उसे अपनी नौकरी से हाथ धोने पड़े। नौकरी छोड़ने से स्वभावतः वह जनता का नेता बन बैठा और क्रमशः जनता की ओर से उसे वह सब कुछ करना पड़ा जिसके लिए

पहले वह जनता पर हंटर चलाता था। कर्मभूमि के अन्तिम भाग में दमन का जो चित्र खींचा गया है वह अपनी पूर्णता और यथार्थता में अद्वितीय है।

सलीम के बाद एक बंगाली सिविलियन मि० घोष ने चार्ज लिया। गाँव में आकर इन्होंने गाँव भर के जानवरों को कुड़क करने की घोषणा की। सस्ता सौदा खरीदने के लिए कसाई भी बुला लिये गये। लोगों ने समझा, यह धमकी भर है परन्तु उन्हें शीघ्र ही अपने भ्रम का पता चल गया। गोरू सब गाँव के मदरसे के सामने इकट्ठे किये गये और किसानों की आँखों के सामने कसाइयों ने उनकी जाँच-पड़ताल भी आरम्भ कर दी। किसानों को उसका जानवर कितना प्यारा होता है, इसका एक निदर्शन हमें प्रेमाश्रम में मिल चुका है। लेखक के अनुसार यहाँ भी 'अब समस्या उस सीमा तक पहुँच गई थी, जब रक्त का आदान-प्रदान आरम्भ हो जाता है।' सलीम और घोष में अभी कानूनी शास्त्रार्थ हो रहा था कि अहीरों के महाल में लाठी चल गई। संगीन चढ़ाये सिपाही उधर लपके। इधर सलीम ने कसाइयों को समझाना शुरू किया। समझाते-समझाते हाथापाई होने को हो गई। सलीम ने एक को गिरा दिया। तब कसाई के दो साथी जो अभी तमाशा ही देख रहे थे, सलीम पर टूट पड़े। इतने में उधर से बुढ़िया सलोनी निकली। सलीम से उसने मार खाई थी परन्तु अब सलीम गाँव का नेता था। उसे मार खाता देख सलोनी ने कसाइयों पर पीछे से लाठी चलाना शुरू कर दिया। एक ने सलोनी को धक्का दिया; तब तक सलीम ने दूसरे को घूँसों से नीचे गिरा दिया। जिसने सलोनी को धक्का दिया था, वह जान बचाकर भागा। सलीम ने जानवरों की रस्सियाँ खोल दीं और वे पूँछ उठाकर भाग खड़े हुए।

इतने में आत्मानंद उधर से आये और सलीम को अहिराने ले गये। उत्तेजित वह इतने थे कि सलीम से रिवॉल्वर माँग रहे थे। गाँव में दमन-चक्र इस रूप में और यहाँ तक चलता है कि आदमी अधिक सहन करने में असमर्थ हो जाता है। और आत्मानंद अहिराने मे पहुँचे तो 'एक युवती सिर खोले, अस्तव्यस्त, कपड़े खून से तर, भयातुर हिरनी-सी आकर' सलीम के पैरों से चिपट गई। उसके घर में सिपाही घुस गए थे; एक ने उसकी बाँह पकड़ी थी; आत्मरक्षा में उसने गड़ाँसे से दो को घायल कर दिया था। अब भी उसके बाल पकड़कर एक सिपाही उसे घर के भीतर ले जाना चाहता था परन्तु सलीम के धमकी देने पर 'मैं तुम दोनों को भूनकर रख दूँगा', उसने उसे छोड़ा। दमन के नाटक की यह क्लाइमैक्स है। इसके बाद अफ़सर आया; सलीम से कहा सुनी हुई और उसका नतीजा यह हुआ कि सलीम ने घोस बाबू की टाँग पकड़कर उन्हें घोड़े पर से खींच लिया और घूँसों से उनका मुँह चूर कर दिया।

इसके बाद वही होता है जो अहिंसावादी नाटकों में होता है। समरकांत सम्र बने; समझौते की कमेटी बनी। किसानों से कहा गया कि उनके प्रतिनिधि भी कमेटी में रहेंगे। परन्तु मुन्नी के इस प्रश्न का कि उस कमेटी का मत क्या सरकार को मान्य होगा, समर या अमर किसी के पास जवाब न था! एक भयानक दुःखांत नाटक पर जैसे किसी ने पनछुट रंगों से लीपापोती करने की कोशिश की हो, इस तरह कर्मभूमि का अन्त होता है। लेकिन प्रेमचन्द देश की राजनीति से बाध्य थे। इसके अतिरिक्त दूसरा अन्त वह दिखा न सकते थे। क्योंकि किसानों को इसी तरह फुसलाया गया है। प्रेमचन्द की क्रान्तिकारी यथार्थता व्यक्त हुई है, दमन के चित्रण में। जैसी:

अहिंसावाद की पुस्तकों में दमन सहकर शत्रु के हृदय परिवर्तन की भव्य कथा हम पढ़ते हैं, उससे यह यथार्थ कितना भिन्न है ! इन किसानों से कहना, तुम चुपचाप अपने जानवरों को कसाइयों के हाथ बेच दो, क्या अहिंसा होता ? कम से कम प्रेमचन्द में इतनी दार्शनिकता न थी। सलीम ने कसाइयों से लड़कर उनकी रस्सियाँ खोल दीं, यह चोरी थी ; दमन का उत्तर दमन से दिया गया था, परन्तु क्या हमें सलीम से असहानुभूति होती है ? और जब वह युवती पर बलात्कार के लिए तत्पर सिपाहियों से कहता है, 'छोड़ दो नहीं तो भूनकर रख दूँगा'—वहाँ दूसरा व्यक्ति उनसे और क्या कहता ? उस युवती ने दो आदमियों को घायल किया था, क्या वह दोषी थी ?

लगानबन्दी आन्दोलन में परिस्थिति कितनी भयंकर हो सकती है, इसका प्रेमचन्द ने नंगा खाका खींच दिया है। क्या लगानबन्दी के अतिरिक्त किसानों के लिए और भी कोई मार्ग खुला हुआ था ? प्रेमचन्द ने उत्तर दिया है, नहीं। न खाने को था, न देने को। आन्दोलन छोड़कर उनके पास कोई चारा न था। आन्दोलन के बाद जो दमन हुआ उससे किसानों का भला होगा या नहीं ? प्रेमचन्द का उत्तर है, हो भी सकता है, नहीं भी। एक अहिंसावादी दार्शनिक की भाँति हम किसानों की हार-जीत का कारण भी बता सकते हैं। जीत गये तो इसलिए कि उन्होंने दमन को सहा और शत्रु का हृदय परिवर्तित हो गया। न जीते तो इसलिए कि सलीम ने घोष की टाँग पकड़कर खींच ली या एक युवती ने आततायियों में दो को घायल कर दिया।

इसीलिए प्रेमाश्रम में जैसे गाँव के विध्वंस का अन्तिम चित्र हमारे

हृदय पर अङ्कित रह जाता है, वैसे ही यहाँ भी एक गाँव का नाश बार-बार हमारी आँखों के सामने सचित्र हो उठता है; कोई भी चित्रकारी उसकी भयङ्करता को नहीं छिपा पाती। 'अँधेरा हो गया था। आतङ्क ने सारे गाँव को पिशाच की भाँति छाप लिया था। लोग शोक से मौन, और आतंक के भार से दबे, मरनेवालों की लाशें उठा रहे थे। किसी के मुँह से रोने की आवाज़ न निकलती थी। ज़ख्म ताजा था। इसलिए टीस न थी।' (प्रेमचन्द की चित्रण-शक्ति यहाँ अपनी चरम सीमा को पहुँची हुई है। थोड़ से शब्द, जैसे विष में बुझे हुए हृदय में घाव कर देते हैं। शब्दों में चित्रांकन की अद्भुत क्षमता है और जो चित्र आँका जाता है वह अपने भाव-गांभीर्य में अपूर्व है।) सवेरे घोष बाबू डाक बँगले गये और उस अहीरिन युवती को कान्स्टेबलों के साथ सदर भेज दिया गया! यदि सिपाहियों को घायल कर वह ऐसे सस्ते छूट जाती तो दमन ही क्या! यह प्रेमचन्द की सूक्ष्म दृष्टि थी जो उन्होंने यथार्थ को इस कटु आघात से सजीव और भयङ्कर कर दिया है। पहर रात जाते चार अर्थियाँ गंगा की ओर चलीं। आगे वही बुढ़िया सलोनी गाती हुई चली—'सैंया मोरा रूठा जाय सखी री।' किसानों की इसे विजय समझिये चाहे पराजय; सलोनी के गाने पर चाहे हँसिये चाहे रोइये,—कर्मभूमि का वास्तव में यहीं पर अन्त हो जाता है।

किसानों के चित्रण में प्रेमचंद हमें भारतीय जन-आन्दोलन के बीचो-बीच ला खडा करते हैं। यही वह स्थल है जहाँ दमन अपने क्रूरतम रूप में निःसहाय निर्बल किसानों को चूर करता हुआ चलता है। यही वह प्रेरणा-केंद्र भी है जो समग्र जन-आन्दोलन को बल देता है। किसानों का ही वह वर्ग है जिसके लिए आंदोलन की समस्त-

शक्तियाँ एकत्र हो गतिशील होनी चाहिये। प्रेमचंद ने गाँव का सारा वातावरण पाठक के आगे सजीव कर दिया है। निर्धनता और अंध-विश्वास, परन्तु इनके साथ सहनशीलता और सहृदयता,—किसानों के इस सरल और दुखी संसार में नवीन सभ्यता आकर पुराने चक्र में जैसे बिजली डाल देती है और ये किसान छिन्न भिन्न होकर इधर-उधर बिखर जाते हैं। प्रेमचंद हमें निराश नहीं करते। आत्मबल पर विश्वास कर संगठित होकर सामाजिक यंत्र पर आघात करने का हमें संदेश देते हैं। परन्तु उनकी आशा उथली नहीं है। उसके नीचे परिस्थिति की भयंकरता का पूरा ज्ञान है। उन्होंने यथार्थ की निष्ठुरता को तिल भर भी घटाकर चित्रित नहीं किया। बीसवीं शताब्दी की अमानुषिकता की कठोर कहानी उन्होंने पूरी-पूरी कह दी है।

महाजन

'मुक्तिधन' नाम की अपनी कहानी में प्रेमचन्द ने लिखा है—'भारतवर्ष में जितने लेनदेन हैं, उन सबमें लेनदेन का व्यवसाय लाभदायक है। आमतौर पर सूद की दर २५) सैकड़ा सालाना है। प्रचुर स्थावर या जंगम सम्पत्ति पर १२) सैकड़ा सालाना सूद लिया जाता है; इससे कम ब्याज पर रुपया मिलना प्रायः असम्भव है। बहुत कम ऐसे व्यवसाय हैं, जिनमें १५) सैकड़े से अधिक लाभ हो और वह भी बिना किसी झंझट के। उस पर नज़राने की रकम अलग, लिखाई अलग, दलाली अलग, अदालत का खर्चा अलग। ये सब रकमें भी किसी न किसी तरह महाजन ही की जेब में जाती हैं। यही कारण है कि यहाँ लेनदेन इतनी तरक्की पर है। वकील, डाक्टर सरकारी कर्मचारी, ज़मींदार, कोई भी जिसके पास कुछ फ़ालतू धन

हो, वह व्यवसाय कर सकता है। अपनी पूँजी के सदुपयोग का यह सर्वोच्च साधन है।' इस गरीब देश में कर्ज की जरूरत जिन्हें न पड़े, ऐसे बहुत थोड़े आदमी होंगे। थोड़ी पूँजी में यह सबसे सस्ता व्यापार है। कुछ लोग तो व्याज पर स्वयं उधार लेकर अधिक व्याज पर उसी धन को दूसरों को उठाते हैं और इसी आदान-प्रदान में ही काफ़ी रकम मार लेते हैं। कमाने-खानेवाले जितने भी वर्ग हैं, सभी में ये छोटे पूँजीपति मिलते हैं। 'गोदान' का गोबर बेकारी में शहर जाता है परन्तु जहाँ उसके पास चार पैसे होते हैं, वह लेन-देन शुरू कर देता है। 'मुक्तिधन' कहानी के लाला दाऊदयाल कचहरी में मुख्तारगीरी करते हैं और जो कुछ बचत होती है, उसे इस व्यापार में लगाते हैं। कर्मभूमि के लाला समरकान्त चोरी का माल तक खरीदते हैं; निम्न वर्ग के व्यक्तियों को ऋण देकर रुपयों की थैली पर बैठे ईश्वर की उपासना किया करते हैं।

ईश्वर की उपासना महाजनी का प्रधान अंग है। मानो ईश्वर की उपासना के बिना इतना हराम का रुपया हजम न होगा। प्रेमचन्द के महाजन मनुष्यताहीन, पैसे को दाँत से पकड़नेवाले, पैसे के लिए आसामी का चिता तक पीछा करनेवाले परन्तु शिवजी की मूर्ति पर नियमित जल चढ़ानेवाले होते हैं। इस वर्ग के प्रपंचपूर्ण जीवन को खुलासा करने में प्रेमचन्द ने कसर नहीं छोड़ी। वरन् इतनी बार महाजनी और ईश्वरोपासना के पारस्परिक सम्बन्ध की ओर उन्होंने इंगित किया है, कि महाजनी के साथ प्रचलित उपासना से भी हम घृणा करने लगते हैं। 'ख़ुदाई फौजदार' कहानी के सेठ नानकचन्द सूदखोरों का अच्छा उदाहरण हैं। 'दया या उपकार-जैसी मानवीय दुर्बलताएँ उन्हें छू भी न गई थीं, नहीं महाजन कैसे बनते। उस पर

धर्मनिष्ठ भी थे। हर पूर्णमासी को सत्यनारायण की कथा सुनते थे। हर मंगल को महावीर जी को लड्डू चढ़ाते थे, नित्यप्रति जमुना में स्नान करते थे और हर एकादशी को व्रत रखते और ब्राह्मणों को भोजन कराते थे। और इधर जब से घी में करारा नफ़ा होने लगा था, एक धर्मशाला बनवाने की फ़िक्र में थे।' प्रेमचंद का व्यंग्य कहीं इतना कटु नहीं होता जितना महाजनों के चित्रण में। इनका शोषण जितना निर्मम और प्राणघातक है, उतना जमींदार और विदेशी शासन का भी नहीं। प्रत्येक वर्ग में, समाज की प्रत्येक शृंखला में, ये जोंक की तरह समाज का रक्त पीने को लगे हैं। उनका शोषण अदृश्य है; ऊपर से कहीं मालूम भी नहीं पड़ता। प्रेमचंद ने उसी की भयंकरता का स्पष्ट चित्रण किया है।

यों तो महाजन सब कहीं, सभी वर्गों में हैं, किंतु उनके शोषण का घातक संबन्ध जितना किसानों से है, उतना औरों से नहीं। उनके चित्र हमें प्रेमचंद की कृतियों में सर्वत्र मिलते हैं, किंतु जैसे 'प्रेमाश्रम' सर्वाधिक जमींदारी शोषण का उपन्यास है, उसी प्रकार 'गोदान' महाजनी शोषण की विशद गाथा है। इस नृशंस अत्याचार से पीड़ित तिल-तिलकर घुलते किसान-वर्ग का यहाँ चित्रण किया गया है। गोदान का नायक होरी है। जमींदार और महाजन में भेद करते हुए वह बताता है—'जमींदार तो एक ही है; मगर महाजन तीन तीन हैं, सहुआइन अलग, मँगरू अलग और दातादीन पंडित अलग।' पाँच साल हुए होरी ने मँगरू साह से साठ रुपये उधार लिये थे, बैल लाने के लिए। उसमें से वह साठ दे चुका था; परंतु वह साठ रुपये अब भी बने हुए थे। दातादीन पंडित से उसने तीस रुपये लिये थे आलू बोने के लिए। दुर्भाग्य से आलू चोर खोद ले गये परन्तु उन

तीस रुपयों के तीन सौ हो गये। दुलारी विधवा सहुआइन नोन-तेल तमाखू की दूकान करती थीं; इकन्नी रुपया का व्याज लेती थीं। इनके भी सौ रुपये हो गये थे। फसल होते ही माल सब महाजनों को तौल देना पड़ता और व्याज फिर बढ़ने लगता। तमाशा यह कि एक समय होरी ने भी महाजनी की थी जिससे लोग समझते थे कि उसके पास अब भी दबा हुआ रुपया है।

होरी के लड़के गोबर ने विधवा झुनिया को अपने घर डाल लिया था। बिरादरी में डाँड़ पड़ा। गल्ला बेचकर होरी ने ३०) खड़े किये; बाकी के लिए ८०) पर अपना घर गिरो लिखा। 'नोखेराम तो चाहते थे कि बैल बिकवा लिये जायँ; परंतु पटेश्वरी और दातादीन ने इसका विरोध किया। बैल बिक गये तो होरी खेती कैसे करेगा?' गाँव के धूर्तता-पूर्ण पूँजीवाद का यह अच्छा निदर्शन है। महाजन आसामी को जान से ही नहीं मारना चाहते। वह मर गया तो उनकी कमाई का द्वार ही बंद हो जायगा। इतना उसके लिए वह करना चाहते हैं कि वह जीता रहे और कमा-कमाकर उनका घर भरता रहे। कसाई एक बार जानवर को मारता है, महाजन उसे घुला-घुलाकर मारता है।

महाजनों में अनेक प्रकार भेद हैं! गाँव में एक महाजन झींगुरीसिंह भी थे जो शहर के एक बड़े महाजन के एजेंट थे। उनके नीचे और कई आदमी थे जो आसपास घूम-घूमकर लेनदेन करते थे। झींगुरीसिंह बड़े हँसोड़ आदमी थे! गाँव को अपनी ससुराल बनाये थे, औरतों से साली सलहज का नाता जोड़े थे। नाटे, मोटे, खल्वाट, काले, लम्बी नाक, बड़ी मूछोंवाले झींगुरीसिंह रुपये देते वक्त पक्का कागज़ लिखाते, नज़राना, दस्तूरी, स्टाँप की लिखाई लेते और एक

साल का व्याज पेशगी काट लेते थे। किसानों की ऊख तैयार थी और वे उसे एक मिल में बेचने जा रहे थे। परन्तु जब बेचेंगे, तब वहाँ झींगुरीसिंह भी होंगे और रुपये ले लेंगे। आसामियों को फिर ज़रूरत पड़ेगी और जब माँगने जायँगे तो फिर नया कागज़ और नया नजराना होगा। इस भय से आपस में सलाह कर रहे थे कि ऊख पहले बेच दी जाय, रुपया बाद में किसी दिन घात देखकर ले आवेंगे। किसान खेत में ऊख काटने गये, वैसे ही महाजनों का झुण्ड भी पहुँचा। रुपया वसूल करना था, इसलिए दुलारी सहुआइन बन-ठनकर आईं। 'पाँव में मोटे मोटे चाँदी के कड़े पहने, कानों में सोने का झूमक, आँखों में काजल लगाये, बूढ़े यौवन को रँगे रँगाये।' यमदूत की तरह मँगरू साह पहुँचे। 'काला रंग, तोंद कमर के नीचे लटकती हुई, दो बड़े-बड़े दाँत सामने जैसे काट खाने को निकले हुए। गठिया का मरज हो गया था। खाँसी भी आती थी।' कुकर्म का जैसा साक्षात् अवतार खड़ा हो।

मिल के फाटक पर झींगुरीसिंह ने आसन लगा रखा था। ऊख तौलकर खजांची से रुपये वसूल करते और अपना पावना काटकर आसामी को रुपये देते। होरी को १२०) मिले उसमें से झींगुरीसिंह ने अपने रुपये काटकर उसे पचीस रुपये दिये। वहाँ से चला तो बाहर नोखेराम मिले। होरी बाकी के रुपये उन्हें देकर वहाँ से भागा। शोभा और पटेश्वरी का झगड़ा हो गया। शोभा अभी रुपये देना न चाहता था; पटेश्वरी के धमकाने पर वह मुलायम पड़ा। होरी और शोभा को आगे गिरधर मिला। यहाँ की एक छोटी सी घटना महाजनी शोषण का ऐसा कटु चित्र खींचती है, जैसा कि दूसरा लेखक पोथे के पोथे रँगने पर भी नहीं खींच सकता। प्रेमचन्द के शब्द-चित्रण को

देखिये :—'सामने से गिरधर ताड़ी पिये, झूमता चला आ रहा था। दोनों को देखकर बोला—झिंगुरिया ने सारे-का-सारा ले लिया होरी काका। चबैना को भी एक पैसा न छोड़ा। हत्यारा कहीं का। रोया-गिड़गिड़ाया ; पर इस पापी को दया न आई।

शोभा ने कहा—ताड़ी तो पिये हुए हो, उस पर कहते हो, एक पैसा भी न छोड़ा।

गिरधर ने पेट दिखाकर कहा—साँझ हो गई, जो पानी की बूँद भी कण्ठ तले गई हो, तो गो-माँस बराबर। एक इकन्नी मुँह में दबा ली थी। उसकी ताड़ी पी ली। सोचा, सालभर पसीना गारा है, तो एक दिन ताड़ी भी पी लूँ ; मगर सच कहता हूँ, नशा नहीं है। एक आने में क्या नशा होगा। हाँ, झूम रहा हूँ, जिसमें लोग समझें खूब पिये हुए है। बड़ा अच्छा हुआ काका, बेबाकी हो गई। बीस लिये थे, उसके एक सौ साठ भरे हैं, कुछ हद है !' परिस्थिति इस सीमा तक उसे घसीट ले गई है जब केवल उन्माद छोड़ उसके लिए और कोई चारा नहीं रह गया। शायद शोभा के लिए कोई ताड़ी का निषेध न करेगा क्योंकि उसे इकन्नी में नशा न हुआ था, केवल दिखाने को झूम रहा था। सालभर की मेहनत का यही फल था।

और होरी की परिस्थिति देखिये। घर पहुँचे तो सब आदर-स्वागत को दौड़े कि ऊख के रुपये लाया होगा। रूपा पानी लेकर दौड़ी, सोना चिलम भर लाई, धनिया ने चबेना और नमक लाकर रख दिया। होरी से न मुँह-हाथ धोते बनता था, न चबेना चबाते। 'ऐसा लज्जित और ग्लानित था, मानो हत्या करके आया हो।' उसकी स्त्री धनिया को जब यह मालूम पड़ा कि रुपया सब महाजनों को वह दे आया तो बोली—'तुम-जैसा घामड़ आदमी भगवान् ने क्यों रचा, कहीं

मिलते, तो उनसे पूछती। उठाकर सारे रुपये बहनोइयों को दे दिये। अब और कौन आमदनी है, जिससे गोई आवेगी। हल में क्या मुझे जोतोगे, या आप जुतोगे! पूस की यह ठण्ढ और किसी की देह पर लत्ता नहीं। ले जाओ सबको नदी में डुबो दो। कब तक पुआल में घुसकर रात काटेंगे और पुआल में घुस भी लें, तो पुआल खाकर रहा न जायगा! तुम्हारी इच्छा हो घास ही खाओ, हमसे तो न खाई जायगी।' यहाँ भी आँसुओं में हँसी मिली हुई है। किसान का भाग्य ऐसा है कि ईश्वर उसे हँसाकर रुलाता है। अपनी बात कहते-कहते धनिया ही मुसकिरा पड़ी। इतनी देर में परिस्थिति उसकी समझ में आगई थी; रुपये पास होने पर महाजन से जान न छुड़ाई जा सकती थी।

गोदान में एक जगह कुछ किसान स्वाँग करते हैं। स्वाँग में वह महाजन का चरित्र भी करते हैं। स्वाँग से महाजन के प्रति उनके हृदयस्थ भावों का पता चलता है। एक किसान दस रुपये उधार लेने गया। कागज़ लिख जाने पर ठाकुर महाजन ने उसके हाथ में पाँच रुपये रख दिये। उसने कहा, यह तो पाँच ही हैं तो उत्तर मिला, 'पाँच नहीं हैं दस हैं। घर जाकर गिनना।' पाँच दस के बराबर इस प्रकार था। एक रुपया नजराने का, एक तहरीर का, एक कागद का, एक दस्तूरी का, एक सूद का, पाँच नगद। किसान ने कहा, 'अब यह पाँचों भी मेरी ओर से रख लीजिये।' पूछा क्यों तो उसने कहा—'एक रुपया छोटी ठकुराइन का नजराना है। एक रुपया बड़ी ठकुराइन का; एक रुपया छोटी ठकुराइन के पान खाने को, एक बड़ी ठकुराइन के पान खाने को। बाकी बचा एक, वह आपकी क्रिया-करम के लिए।' इस अतिरंजित चित्र के व्यंग से किसान की जलन

का अनुमान किया जा सकता है जैसा कि प्रेमचन्द ने लिखा है इस स्वाँग से 'सताये हुए दिल, कल्पना में प्रतिशोध पाकर प्रसन्न होते रहे।'

क्या कानून बनाकर महाजनी शोषण का अंत किया जा सकता है? महाजन कहता है नहीं। जब तक देश में गरीबी है तब तक गरीबों को उसकी ज़रूरत रहेगी। वह अपने आसन पर उतने ही विश्वास से बैठा है जितने से जमींदार। जो लोग कानून से इस महाजनी का अंत कर देना चाहते हैं, उनके लिए प्रेमचन्द ने गोदान में चेतावनी दी है। दातादीन झिंगुरी से कहते हैं, सरकार महाजनों से कहती है, सूद की दर घटा दो, नहीं तो डिग्री न मिलेगी। झिंगुरी ने कहा, हम निश्चिन्त हैं। दर हम कम लिखावेंगे लेकिन एक सौ में पचीस पहले ही काट लेंगे, इसमें सरकार क्या कर सकती है? दातादीन को भय हुआ, कहीं जालसाजी में पकड़े गये तो? झिंगुरी ने कहा—'क्या तब संसार बदल जायगा। कानून और न्याय उसका है जिसके पास पैसा है। कानून तो है कि महाजन किसी आसामी के साथ कड़ाई न करे, कोई जमींदार किसी कासकार के साथ सख्ती न करे; मगर होता क्या है। रोज ही देखते हो। जमींदार मुसक बँधवा के पिटवाता है और महाजन लात और जूते से बात करता है।' महाजन जानता है कि वह भी जमींदार वर्ग का ही व्यक्ति है। किसान के शोषण में उसका आधा हिस्सा है, यह वह जानता है। जमींदार की सख्ती पर कोई कुछ नहीं करता, वैसे ही उसकी सख्ती पर भी सब चुप हैं। प्रचलित व्यवस्था में महाजन और जमींदार बड़े मजे में आधा-साझा कर लेते हैं। महाजन सूद पर रुपये देता है; जमींदार लगान लेता है। जमींदार भी खुश; महाजन भी खुश। जमींदार चाहे लगान न भी बढ़ाये, सूद बढ़ ही जाता है और जीवन भर के लिये,

अपनी संतान के जीवन तक के लिये किसान महाजन का गुलाम बन जाता है। महाजन से उधार लेकर किसान जमींदार को लगान देता है और अपनी कमाई वह महाजन को दे देता है। अंत में इसी कोल्हू में पिसते हुए उसका अंत हो जाता है।

जमींदार के लगान के अतिरिक्त कन्या का विवाह किसान के लिए दैवी व्याधि से कम नहीं होता। होरी को भी लड़की का ब्याह करना था। उसने रुपये उधार लिये। रुपये कमाने के लिये एक सड़क पर कंकड़ों की खुदाई की मजूरी करने लगा। बहुत दिन के बाद उसका भाई हीरा आया और होरी को देखकर बोला—'तुम तो बहुत दुबले हो गये हो दादा!' होरी ने उत्तर दिया—'मोटे वह होते हैं, जिन्हें न रिन की सोच होती है, न इज्जत की। इस जमाने में मोटा होना बेहयाई है।' मोटे होने की बात दूर, होरी के लिए जीना भी दूभर था। गर्मी की जलती लू में काम करते-करते एक दिन उसका जी खराब हो गया। मरने के समय लोगों ने कहा—गोदान कर दो। धनिया भीतर गई और सुतली के बेचने से जो पैसे बचे थे उन्हें 'पति के ठढे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली—महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है! और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।'

यही गोदान का अन्त है। किसान मुर्दा है, और उसकी स्त्री मूर्च्छित, और सूदखोर दातादीन पुरोहित के रूप में अब भी हाथ पसारे सामने खड़े हैं। जमींदार का लगान, कन्या का ब्याह, धर्म का तक़ाज़ा, न जाने कितने फंदों में क़िसान फँसा है। वह सुलझकर भागना चाहता है लेकिन फंदा और तंग हो जाता है। और अन्त में एक दिन उसके प्राणों का अन्त होकर ही रहता है। महाजनी शोषण

का सीधा सम्बन्ध जमींदारी प्रथा से है। जमीन का लगान देने के लिए किसान कर्ज़ लेने पर बाध्य होता है, सामाजिक आवश्यकताएँ उसे उकसाती हैं और शोषण का यन्त्र चालू रहता है। उसके पसीने की कमाई सूद बनकर महाजन के पेट में भरती जाती है और इस यन्त्रणा से बचने के लिए कानून कचहरी कुछ भी उपयोगी सिद्ध नहीं होते। प्रेमचन्द ने कोई आदर्शवादी समझौता 'गोदान' के अन्त में नहीं रखा; शोषण का क्रम अबाध गति से चलता ही रहता है। उसका कारण सारा सामाजिक संगठन है और जब तक वह है तब तक महाजन भी हैं।

राजनीतिक आंदोलन

राजनीतिक आंदोलन का सबसे निर्बल रूप प्रेमचन्द के सामने वह था जिसका सम्बन्ध कौंसिलों में जाकर सुधार करने से था। प्रेमचन्द की क्रांतिकारी मनोवृत्ति का इस बात से पता चलता है कि उन्होंने कभी भी कौंसिलों में जाकर किसी रचनात्मक कार्यक्रम की सफलता में विश्वास नहीं किया। सेवासदन तक में उन्होंने इन सुधारवादियों पर व्यंग्य किये हैं। सुमन की सहायता के लिए विठ्ठलदास ऐसे ही एक सज्जन के पास जाते हैं। डाक्टर श्यामाचरण 'शहर के प्रधान राज-नीतिक नेता थे, उनकी वकालत खूब चमकी हुई थी। शांति-भक्त थे, इसलिए उनके विरोध से न किसी को हानि थी, न उनके योग से किसी को लाभ।' ये कौंसिलर ऐसे ही निरीह प्राणी होते थे; उनके सामर्थ्य का इसी से पता चलता है कि लोगों की न उनसे बुराई हो सकती थी,

न भलाई। मध्यवर्ग के खाते-पीते संतोषी व्यक्ति का प्रेमचन्द ने सुदर चित्र दिया है। उसके संतोष में देश की गरीबी का विचार यदि कुछ खलल डालता है, तो कौंसिलों में प्रश्नकर वह उसे शांत कर लेता है। इसीलिए विट्ठलदास के लिए भी वकील साहब का कार्यक्रम प्रश्नों का ही है और विट्ठलदास वहाँ से निराश होकर चले आते हैं।

प्रेमाश्रम के राय कमलानन्द ऐसे दूसरे कौंसिलर हैं। ज्ञानशंकर से बजट पर एक भाषण तैयार करने को कहते हैं। ज्ञानशंकर ने आपत्ति की कि इस सम्बन्ध में उनका ज्ञान पर्याप्त न था, वह भाषण कैसे लिखते ! रायसाहब ने कहा, अर्थ-सचिव की योग्यता और कार्यपटुता की प्रशंसा आवश्यक है। शिक्षा और स्वास्थ्य के लिए अधिक धन की आवश्यकता और पुलिस के व्यय में कमी आदि दो-चार मोटी बातों पर जोर दे देना चाहिये। बजट स्पीच तैयार हो जायगी। रायसाहब ने कहा—'हमारा कोई प्रस्ताव माना तो जायगा नहीं। फिर बजट के लेखों को पढ़ना और उस पर विचार करना व्यर्थ है।' कौंसिलर भी जानता है कि कौंसिल में उसका अस्तित्व कोई महत्त्व नहीं रखता। फिर भी नेता बनने में सम्मान है, इसलिए यह ढोंग वह रचता है।

रङ्गभूमि के गांगुली बाबू एक दूसरा उदाहरण हैं। जानते हैं, कौंसिल में भाषण करने, प्रश्न करने, बहस करने, आदि का महत्त्व पानी चीरने के महत्त्व से ज्यादा नहीं है, कौंसिल में जीवन बिताकर गांगुली कहते हैं—'भगवान् जिलाता है, तो भगवान ही मारता है। काउन्सिल को सरकार बनाता है, और वह सरकार की मुट्ठी में है। जब जाति द्वारा काउंसिल बनेगा, तब उससे देश का कल्याण होगा।' निर्जीव जीवन के आदी हो जाने से गांगुली बाबू को अब दूसरा रास्ता

नहीं दिखाई देता। इन्दु कहती है—मैं तो ऐसी जिन्दगी से मर जाना बेहतर समझूँ।' गांगुली मर कर भी कौंसिलर बनने की इच्छा करते हैं। गांगुली प्रभृति व्यक्तियो के चित्र प्रेमचन्द की अन्य कृतियों में भी हैं। सभी भीतर से अपना खोखलापन जानते हैं; बाहर से दुनिया को ठगने के लिये एक आडम्बर रचे हुए हैं।

स्वभावतः प्रेमचन्द को यदि आशा थी तो राष्ट्रीय आन्दोलन से कि वह देश में कोई परिवर्तन कर सकेगा। सन् ३० के आन्दोलन को लेकर उन्होंने जो कहानियाँ लिखी हैं, उनसे मालूम होता है कि कांग्रेस के कार्यक्रम से उन्हें सहानुभूति थी। चर्खा, मद्य बहिष्कार आदि का उन्होंने समर्थन ही किया है। फिर भी उनका लक्ष्य वही नहीं था जो कि आन्दोलन के नेताओं का था; वह या तो आन्दोलन से बड़ी-बड़ी आशाएँ किये थे या समझते थे कि बड़े लक्ष्य की पूर्ति के लिए ये बहुत-सी प्रारंभिक बातें करनी ही पड़ेंगी। प्रेमचद अच्छी तरह जानते थे कि देश के जिस वर्ग को सहायता की सबसे ज्यादा ज़रूरत है, वह किसानों का है। 'स्वराज्य किसानों की माँग है, उन्हें ज़िन्दा रखने के लिए आवश्यक है, अनिवार्य है।' किसानों के सामाजिक संगठन का क्या रूप होगा, इसके बारे में वह दुविधा में न थे। ज़मीन किसानों को उनकी व्यक्तिगत संपत्ति के रूप में दे दी जाय, यह प्रेमचंद का लक्ष्य न था। प्रेमाश्रम के अंत में तथा अन्य कहानियों में वह दिखा चुके थे कि किसानों को सहकारिता के आधार पर खेती करनी चाहिये। उनकी उन्नति के लिए यह सबसे उचित साधन है। प्रेमाश्रम के अंत में मायाशंकर अपनी जमीन किसानों को दे देता है। प्रेमचंद की दृष्टि में सहकारिता-सिद्धांत पर खेती करने के लिए ज़मींदारों की ज़रूरत नहीं है। फिर भी राष्ट्रीय-

आंदोलन में जमींदारों को एकदम निकाल देना भी उनका लक्ष्य नहीं था। अप्रैल सन् ३० के हंस में 'स्वराज्य से किसका अहित होगा ?' लेख में उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया था कि स्वराज्य की जरूरत सबसे ज्यादा किसान को है लेकिन किसान का उपकार किसी का अपकार न होगा। ज़मींदारों को अवश्य नुक्सान होगा परंतु आय घटने से तब वे समाज के सच्चे नेता बन सकेंगे। किसान लगान में जितनी कमी कराने से माने, उतनी कमी उन्हें करनी होगी ; शायद ५० फ़ीसदी तक।

प्रेमचन्द का लक्ष्य था कि धीरे-धीरे उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार हो जाय। स्वराज्य का संकुचित राष्ट्रीयतावाला अर्थ उन्होंने ग्रहण न किया था। आवश्यकता इसी बात की न थी कि अंग्रेज़ों को निकाल बाहर किया जाय वरन् इस बात की भी कि उनके साथ समाज की व्यवस्था में भी परिवर्तन हो जाय। अपनी 'आहुति' कहानी में उन्होंने इस बात को बहुत स्पष्टता से कह दिया है। 'आनंद' समाज में आगे भी संपत्ति का प्रभुत्व अनिवार्य समझता है। इसके विपरीत 'रूपमणि' का लक्ष्य उस व्यवस्था को ही बदलना है। 'अगर स्वराज्य आने पर भी संपत्ति का यही प्रभुत्व बना रहे और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूँगी, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। अंग्रेजी महाजनों की धन लोलुपता और शिक्षितों का स्वहित ही हमें पीसे डाल रहा है। जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिये हुए हैं, इन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिये सिर चढ़ायेगी कि वे स्वदेशी हैं ! कम से कम मेरे लिये तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जान की जगह गोविंद बैठा दिये जायँ। मैं समाज में ऐसी व्यवस्था देखना चाहती हूँ, जहाँ कम

से कम विषमता को आश्रय मिल सके।' जो स्वराज्य-आंदोलन की आड़ में केवल पूँजीवादियों का परिवर्तन चाहते थे, उनसे प्रेमचंद कोसों दूर थे, यह स्पष्ट हो जाता है। बाद को जैसा कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनने पर हमने देखा है, जान के स्थान पर गोविंद ने किसान मजूर आंदोलन को कुचलने की कोशिश की है। प्रेमचद ने इनके राष्ट्रद्रोह को स्पष्ट कर दिया था। जो राष्ट्रीयता पूँजीवाद की समर्थक है, उसका उन्होंने विरोध किया था। नवंबर सन् '३२ मे उन्होंने हंस मे लिखा था— 'वर्तमान राष्ट्र यूरोप की ईजाद है और राष्ट्रवाद वर्तमान युगका शाप।'

इस राष्ट्रवाद के अभिशाप से बचने के लिए एक ही चारा था, समाजवाद। प्रेमचन्द एक कट्टर समाजवादी न थे। उनकी कृतियों से यह नहीं जान पड़ता कि उन्होंने समाजवाद का शास्त्रवत् अध्ययन किया था या समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार रचे गये साहित्य के अनुसार अपना साहित्य भी गढ़ने की चेष्टा की थी। परन्तु इसीलिए उनका अनुभव हमारे लिए और भी मूल्यवान हो जाता है क्योंकि उन्होंने उसे पुस्तकों से न पाया था। वे किसानों में रहे थे; उनकी दशा में शीघ्र परिवर्तन की आवश्यकता का उन्हें बोध हुआ था और जिस परिवर्तित दशा में वह उन्हें देखना चाहते थे वह सहकारिता थी। अनेक पुस्तकों में उन्होंने अपने पात्रोंको समाजवाद पर बहस करते सोचते विचारते दिखाया है। परन्तु गोदान के मेहता भी, जो युनिवर्सिटी मे प्रोफेसर हैं, समाजवाद के प्रकांड पंडित नहीं जान पड़ते। प्रेमचद का चिंतन बहुत कुछ मौलिक था; समाजवादी क्रांति के सभी अंगों का सूक्ष्म विश्लेषण किये बिना भी उन्होंने अनुभव किया था कि हमारा आदर्श व्यक्तिगत संपत्ति से अलग समष्टिवादी होना चाहिये। 'महाजनी सभ्यता' में जैसा हम देख चुके हैं, वह आज की सामाजिक

व्यवस्था में परिवर्तन चाहते थे। समाजवादी आदर्श की ओर चलने के लिए वह राष्ट्रवाद और किसी हद तक कथित भारतीयता को छोड़ने के लिए भी तैयार थे। सन् '३३ में उन्होंने हंस में लिखा था—'कम्यू-निज़्म का प्रचार हो या न हो, पर समाज का आदर्श बदल गया है। भारत जैसे रूढ़ियों के गुलाम देश दस-बीस साल और परलोक-चिंतन में पड़े रहें, लेकिन संसार समष्टि की ओर जा रहा है और सच पूछो, तो समष्टिवाद की अनीश्वरता, जो हर आदमी के लिए समान अवसर की व्यवस्था करती है, जो किसी का जन्मसिद्ध या परम्परागत अधि-कार नहीं मानती, ईश्वरता के कहीं निकट है।'

समरयात्रा तथा अन्य कहानियों में राष्ट्रीय आन्दोलन के विभिन्न अंगों पर उन्होंने कहानियाँ लिखी हैं। शराब-बन्दी, कपड़ों की दूकानों पर पिकेटिंग आदि का उन्होंने वर्णन किया। उन दिनों के निकलने-वाले बड़े-बड़े जुलूसों के चित्र उन्होंने दिये हैं और उस समय का वह जन-कोलाहल उनके पृष्ठों में एक बार फिर सुनाई-सा देने लगता है। ऐसे चित्रण में समूह के मनोविज्ञान में प्रेमचन्द ने अपनी गहरी पैठ का परिचय दिया है।

प्रेमाश्रम में एक जगह एक भीड़ डा० इर्फ़ानअली को घेर लेती है। इर्फ़ानअली ने गाँव के निर्दोष आदमियों के विरुद्ध बहसकर उन्हें सजाएँ दिलाई थीं। समूह में व्यक्ति अपना अकेला उत्तरदायित्व न समझकर प्रतिहिंसावादी और उद्धत हो जाता है। इर्फ़ानअली को अपने बीच पाकर जनता उत्तेजित हो गई। उत्तेजना के साथ उसे परिहास करने की भी सूझती है। लोगों ने कहा—'मोटर से खींच लो, ज़रा इनकी खिदमत कर दी जाय। इसने जितने रुपए लिये हैं सब इसके पेट से निकाल लो।' प्रेमशंकर के बीच-बचाव करने पर एक ने

कहा—'बिना कुछ जलपान किये इनकी अकल ठिकाने न आयेगी।' केवल प्रेमशंकर के यह कहने पर कि इफीनअली पर एक भी हाथ उठा तो उनकी लाश वहाँ दिखाई देगी, लोगों ने उन्हें जाने दिया।

'रियासत का दीवान' कहानी में जन-समूह का अन्धविश्वास दिखाया गया है। कहीं भी नेता को सफलता मिलने पर जनता उसे चमत्कार का रूप देना चाहती है। पिछले आन्दोलन के समय गाँधीजी के बारे में बहुत-सी कथाएँ गढ़ी गई थीं : जैसे कि जेल के भीतर बैठे बैठे वायसराय से मिले और फिर लौट आये। इस कहानी में दीवान साहब का लड़का जयकृष्ण राजा साहब से भेंट करता है। दोनो में वाद-विवाद हो जाता है और दीवान साहब उसे घर से निकाल देने का वचन देकर राजा को आश्वस्त करते हैं। इस घटना की चर्चा जनता में इस प्रकार होती है—'अजी, वह आदमी नहीं था भाई, उसे किसी देवता का अवतार समझो। महाराज के पास जाकर बेधड़क बोला—अभी बेगार बंद कर दीजिये ; वरना शहर में हंगामा हो जायगा। राजा साहब की तो ज़बान ही बन्द हो गई। बग़लें झाँकने लगे। शेर है शेर! उम्र तो कुछ नहीं ; पर आफ़त का परकाला है। और वह यह बेगार बन्द कराके रहता, हमेशा के लिए राजा साहब को भागने की राह न मिलती। सुना, घिघियाने लगे थे। मुदा इसी बीच में दीवान साहब पहुँच गये और उसे देश निकाले का हुक्म दे दिया।' अपनी लचारी की प्रतिक्रिया जनता अपने नेता के कार्य में देखती है और जितना ही वह मजबूर होती है, उतना ही महान् होकर नेता का कार्य उसके सामने आता है। जो बात देखी सुनी नहीं, उसे भी कल्पित कर जनता यथार्थ का रङ्ग दे देती है। नेता देवता हो जाता है और उसका कार्य चमत्कार!

कर्मभूमि में जनसमूह के अनेक स्थलों पर बड़े मार्मिक चित्रण हैं। मुन्नी भिखारिन का, जिसने दो गोरों की हत्या की थी, अदालत में मुकदमा चल रहा था। हत्या उस अभागिनी पर किये गये बलात्कार का प्रतिशोध था। इसलिए स्वभावतः वह अपनी मर्यादा रक्षा के लिए सचेत विद्रोही आत्मा का प्रतीक बनी हुई थी। डाक्टर ने कचहरी में बयान दिया था कि हत्या के समय वह अस्थिरचित्त न थी। जनता को यह बुरा लगा; यह जानकर उसे सन्तोष था कि हत्या जानबूझकर की गई है लेकिन मुन्नी को छुड़ाने के लिए वह इस बात को कचहरी में सुनने के लिये तैयार न थी। डाक्टर साहब के प्रति जनता के व्यवहार से उसकी विरोधी प्रतिक्रिया का पता चलता है। 'जिस दिन वह बयान देकर निकले, उन्हें इतनी धिक्कारें मिलीं कि बेचारे को घर पहुँचना मुशकिल हो गया। ऐसे अवसरों पर जनता की इच्छा के विरुद्ध किसी ने चूँ किया और उसे धिक्कार मिली। जनता आत्म-निश्चय के लिए कोई अवसर नहीं देती। उसका शासन किसी तरह की नर्मी नहीं करता।' जनता की यह अंध-प्रवृत्ति दर्शाने के बाद ही प्रेमचन्द पाठक का ध्यान उसकी सहृदयता की ओर खींचते हैं, जो सहृदयता विशेष अवसरों में उभरने पर एक दम निःस्वार्थ और सर्वस्व तक वार देनेवाली हो जाती है। अमरकांत मुकदमे की पैरवी के लिए रुपये इकट्ठा कर रहा था। गरीब पठानिन ने भी उसे दो रुपये दिये। वह रूमाल बनाती थी और उन्हीं को बेचकर अपना और अपनी लड़की सकीना का पेट पालती थी। अमरकांत मुन्नी के लिए चंदा इकट्ठा करने से ही अपने आपको कुछ समझने लगा था क्योंकि एक लोकप्रिय कार्य के लिए आगे बढ़ने से वह भी लोकप्रिय हो गया था। 'इन फ़ाकेमस्तों का यह उत्साह देखकर उसकी

आँखें खुल गईं।' जब उसने रुपये लेने से इन्कार किया तो सकीना ने कहा—'जहाँ गरीबों के रुपये नहीं पूछे जाते, वहाँ गरीबों को कौन पूछेगा।' गरीबों के इस त्याग के प्रेमचन्द ने अन्यत्र भी उदाहरण दिये हैं, मानो उनका त्याग महत्तम हो, उस त्याग के आगे लाखों की संपत्ति में हज़ार का त्याग दो कौड़ी का हो।

'पत्नी से पति' (समरयात्रा) कहानी में एक अन्धा भिखारी मिस्टर सेठ की पत्नी के पास भीख माँगता पहुँचता है। सेठ को स्वदेशी वस्तुओं से घृणा है, श्रीमती सेठ को उनसे उतना ही प्रेम। वह अंधा लड़का खँजरी बजाकर गा रहा था—

'वतन की देखिये तक़दीर कब बदलती है।'

गोदावरी—श्रीमती सेठ—ने सन्दूक खोला लेकिन सब नोट और रुपये ही वहाँ थे। 'पैसे अगर दो-चार मिल जाते, तो इस वक्त वह ज़रूर दे देती; पर वहाँ एक ही पैसा था, वह भी इतना घिसा हुआ था, कि कहार बाज़ार से लौटा लाया था।' कुछ असमंजस के बाद गोदावरी ने वह पैसा उस अन्धे को दे दिया। दूसरे दिन पति से लड़-झगड़कर कांग्रेस के जलसे में गई। चन्दे में उस अन्धे लड़के ने भी एक पैसा दिया और वहाँ से हटकर फिर गाने लगा। सभापति ने कहा—'मेरी आँखों में इस एक पैसे की क़ीमत किसी अमीर के एक हजार रुपए से कम नहीं।' गोदावरी ने फिर उसी पैसे को दो सौ रुपए में खरीदा। कांग्रेस के आंदोलन की लोकप्रियता ऐसी घटनाओं से भलीभाँति प्रकट होती है; यदि ऐसा त्याग भी आंदोलन को पूरी तरह क्रांतिकारी न बना सका तो दोष नेताओं का है।

जनता में डींट हाँकने की जो प्रतिमा होती है, उसका प्रदर्शन भी कर्मभूमि में हुआ है। मुन्नी के मामले में फैसला सुनने के पहले

ही 'शान्तिकुमार और सलीम तो खुल्लम-खुल्ला कहते फिरते थे कि जज ने फाँसी की सज़ा दे दी। कोई खबर लाता था—'फौज की एक पूरी रेजिमेंट कल अदालत में तलब की गई है।' जीट के साथ तिहिंसा है और प्रतिहिंसा के साथ परिहास भी। लोग तय करने लगे कि जज को सजा क्या दी जाय जिससे मुन्नी के ऐसे मामले में वह फिर ऐसी सजा न दे। अमरकांत ने कहा, उसका बायकाट कर दिया जाय। सलीम ने इसे 'बनियों की बात' कहकर टाल दिया और अपना प्रस्ताव भी रखा। 'अगर सबक़ ही देना है, तो ऐसा सबक़ दो, जो कुछ दिन हज़रत को याद रहे। एक आदमी ठीक कर लिया जाय जो ऐन वक्त, जब हज़रत फैसला सुनाकर बैठने लगें, एक जूता ऐसे निशाने से चलाये कि मुँह पर लगे।' और अन्त में अमर भी इस प्रस्ताव से सहमत हुआ। यद्यपि सलीम और अमरकांत पढ़े लिखे आदमी हैं, फिर भी यहाँ वे समूह की मनोवृत्ति से प्रभावित हैं और उसके अनुसार बातें करते-सोचते-विचारते दिखाये गये हैं।

जनता के उत्साह प्रकट करने के प्रकार भी विचित्र होते हैं। समूह की क्रियाओं में एक बचपन सा होता है जो नियंत्रण के अभाव में ऊपर उठ आता है। मुन्नी के छूटने की खबर सुनकर 'घनिष्ठ मित्रों में धौलधप्पा होने लगा। कुछ लोगों ने अपनी-अपनी टोपियाँ उठा लीं। जो मसखरे थे उन्हें जूते उछालने की सूझी।' और यही मसखरापना, यही बालकों का-सा उत्साह उन्हे गोलियों की बौछार के आगे भी निर्भीक और निश्चल बना देता है। आन्दोलन के दिनों में स्वयंसेवकों पर लाठियों की मार एक साधारण बात थी। 'जुलूस' नाम की कहानी में उस समय के जुलूसों का चित्र मिलता है। 'पूर्ण स्वराज्य का जुलूस निकल रहा था। कुछ युवक, कुछ बूढ़े,

कुछ बालक झण्डियाँ और झण्डे लिये बन्दे मातरम् गाते हुए माल के सामने से निकले। दोनो तरफ दर्शकों की दीवारें खड़ी थीं, मानो उन्हें इस जत्थे से कोई सरोकार नहीं है, मानो यह कोई तमाशा है और उनका काम खड़े-खड़े देखना है।' इनमें कुछ लोग तमाशे का आनन्द तो लेना चाहते हैं, परन्तु तमाशा करनेवालों को गाली देकर अपनी सफ़ाई भी देते जाते हैं। 'महात्मा जी भी सठिया गये हैं। जुलूस निकलने से स्वराज्य मिल जाता, तो अब तक कब का मिल गया होता। और जुलूस में हैं कौन लोग, देखो—लौंडे, लफंगे, सिर फिरे। शहर का कोई बड़ा आदमी नहीं।' ऐसी बातें पास में खड़े और आदमी सुन रहे थे जिन्हें वे पसन्द न थीं। उन्हीं में से एक मैकू था जो 'चट्टियों और स्लीपरों की माला गरदन में लटकाये खड़ा था।' उसने टिप्पणी करनेवालों को जवाब दिया। 'बड़े आदमी क्यों जुलूस में आने लगें, उन्हें इस राज में कौन आराम नहीं है। मर तो हम लोग रहे है, जिन्हें रोटियों का ठिकाना नहीं। इस वखत कोई टेनिस खेलता होगा, कोई चाय पीता होगा, कोई ग्रामोफोन लिये गाना सुनता होगा, कोई पारिक की सैर करता होगा, यहाँ आयें पुलीस के कोडे खाने के लिए, तुमने भी खूब कही।' जुलूस का सरदार इब्राहीम था। हमला होते ही पहला डण्डा इब्राहीम के लगा और वह सिर पकड़कर बैठ गया। उसे उठाने के लिए कई आदमी आगे बढ़े परन्तु कोई सफल न हुआ। 'सवारों के डण्डे बड़ी निर्दयता से पड़ रहे थे। लोग हाथों पर डण्डों को रोकते थे और अविचलित रूप से खड़े थे।' लोग चाहते तो सवारों की कतार को चीरकर निकल सकते थे परन्तु उन्होंने अहिंसा का व्रत लिया था। 'कितनों ही के सिरों से खून जारी था, कितनों ही के हाथ जख्मी हो गये थे। एक हल्ले में

यह लोग सवारों की सफों को चीर सकते थे ; मगर पैरों में बेड़ियाँ पड़ी हुई थीं—सिद्धान्त की, धर्म की, आदर्श की।'

प्रेमचन्द के आगे यह समस्या थी, कि किस सीमा तक इस अहिंसा-व्रत का पालन किया जाय। समूह की मनोवृत्ति से पूरी तरह परिचित होने के कारण प्रेमचन्द जानते थे कि उसके लिए सभी परिस्थितियों में शांत और निष्क्रिय रहना संभव नहीं था। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, प्रतिहिंसा समूह के चरित्र में सम्मिलित है और बार-बार उत्तेजना मिलने पर वह उभर भी सकती है। यही नहीं, किन्हीं परि-स्थितियों में यह प्रतिहिंसा क्षम्य भी है। प्रेमाश्रम में हम देख चुके हैं, मनोहर ने गौस खाँ का खून किया था परन्तु इसके लिए प्रेमचन्द ने उसकी भर्त्सना नहीं की। ऐसे ही कर्मभूमि में सलीम का घोष बाबू पर आक्रमण है। निश्चय ही प्रेमचन्द अहिंसा को नीति के रूप में ही ग्रहण करते हैं। उनकी अहिंसा का अर्थ निष्क्रियता नहीं है। मनुष्य के मान पर, स्त्री की लाज पर आक्रमण होने से प्रतिक्रिया को सक्रिय ढंग के रूप में प्रकट होना ही चाहिए। 'इस्तीफा' कहानी में दफ्तर का साहब एक बाबू के कान पकड़ता है। बाबू बेचारे चुपचाप चले आते हैं परन्तु बीबी के आगे यही कहते हैं कि वह साहब को ठोक आये हैं। बीबी बड़ी प्रसन्न हुई और उसने कहा, यदि वह साहब को मारकर न आते तो सचमुच वह उन्हें कायर समझती। यह सुनकर बाबू को अपनी पतित अवस्था का भान होता है और वह साहब के डंडा लगाकर ही आते हैं। ऐसे ही 'जेल' कहानी में एक गाँव में पुलिस लगान वसूल करने में मदद देने जाती है। एक किसान के घर में घुसकर उसे पीटना शुरू करती है। वह मार खाता रहा परन्तु उसकी स्त्री कानिस्टिबिलों को बकने लगी। एक सिपाही ने पकड़कर उसे नंगा कर

दिया। किसान से यह न सहा गया। 'न देह में बल है, न दिल में हिम्मत ; पर मनुष्य का हृदय ही तो ठहरा। बेचारा बेदम पड़ा हुआ था। स्त्री का चिल्लाना सुनकर उठ बैठा और उस दुष्ट सिपाही को धक्का देकर ज़मीन पर गिरा दिया।' नतीजा वही हुआ जो हो सकता था। वह किसान तो मार ही डाला गया, उससे सहानुभूति दिखाने और जो कोई आया, वह भी मारा गया। 'आधे गाँव का क़त्लाम करके पुलीस विजय के नगाड़े बजाती हुई लौट गई।' कट्टर से कट्टर अहिंसावादी भी शायद यह न कह सकेगा कि जनता के प्रतिहिंसात्मक कार्यों का प्रेमचन्द ने शुभ परिणाम दिखाया है, ऐसे कार्यों से भयंकर हानि होती है। परन्तु प्रेमचन्द के लिए एक मनुष्य का हृदय भी है। और उसकी धड़कन सुनकर मनुष्य अपने मनुष्यत्व की, मर कर भी, रक्षा करता है।

प्रेमचद ने जनता के भीतर आंदोलन के प्रति विभिन्न वर्गों की प्रतिक्रिया देखी थी। बड़े-बड़े पूँजीपति कभी कठिनाई से राष्ट्रीयता की ओर झुकते, कभी फिर फिसल जाते ; सरकारी हाकिम हुक्काम अधिकांशतः आदोलन के विरोधी रहे ; मध्यवर्ग के लोग वादविवाद करते और फिर आन्दोलन में भाग लेते और समाज के निम्नतम अंग गरीब मजूर और किसान उसे शक्ति देते थे। निर्धन और निर्बल की सहिष्णुता और त्याग का प्रेमचंद ने मार्मिक वर्णन किया है। फिर भी उन्होंने देखा था कि आंदोलन से जो आशाएँ थीं वे पूरी नहीं हुईं। इसका दोष उन्होंने देश के नेतृत्व के माथे पर ही रखा है। लोगों ने सूत काता, शराब और विदेशी कपड़ों पर धरना भी दिया ; बिना किसी लाभ के डंडों का सामना करते रहे। प्रेमचंद ने जनता को दोष नहीं दिया। 'ग़बन' मे खटिक के दो लड़के पिकेटिंग में

पुलिस द्वारा पीटे जाकर मारे गये। उनकी स्मृति वह अब भी हृदय में बनाये है। उससे कोई पूछे आंदोलन क्यों असफल रहा। उसने तो अपना उत्तर दायित्व पूरी तरह निबाहा। 'बेटों को गङ्गा में सौंपकर मैं सीधे बजाजे पहुँचा और उसी जगह खड़ा हुआ जहाँ दोनों वीरों की लहास गिरी थी। गाहक के नाम चिड़िए का पूत तक न दिखाई दिया। आठ दिन वहाँ से हिला तक नहीं। नवें दिन दूकानदारों ने कसम खाई, कि बिलायती कपड़े अब न मँगावेंगे। तब पहरे उठा लिये गये। तब से विदेशी दियासलाई तक घर में नहीं लाया।' प्रेमचन्द ने देखा था यह त्याग, ये भावनाएँ लक्ष्य हीन-सी हवा में चक्कर लगाकर जैसे कहीं विलीन हो गई थीं। देवीदीन खटिक जनता और जनता के नेताओं की तुलना करता है। 'इन बड़े-बड़े आदमियों के किये कुछ न होगा। इन्हें बस रोना आता है; छोकरियों की भाँति बिसूरने के सिवा इनसे और कुछ नहीं हो सकता। बड़े-बड़े देश भगतों को बिना बिलायती सराब के चैन नहीं आता। उनके घर में जाकर देखो तो एक भी देशी चीज न मिलेगी। दिखाने को दस-बीस कुरते गाढ़े के बनवा लिये, घर का और सब सामान बिलायती है।...अरे; तुम क्या देश का उद्धार करोगे! पहले अपना उद्धार तो करलो। गरीबों को लूटकर घर भरना तुम्हारा काम है। इसीलिए तुम्हारा इस देश में जनम हुआ है। हाँ, रोये जाव। बिलायती सरावें उड़ाओ, बिलायती मोटरें दौड़ाओ, बिलायती मुरब्बे और अचार चखो...पर देश के नाम को रोये जाव। मुदा इस रोने से कुछ न होगा। रोने से माँ दूध पिलाती है, सेर अपना सिकार नहीं छोड़ता।' इन शब्दों को हम आंदोलन के प्रति प्रेमचन्द के दृष्टिकोण का द्योतक समझ सकते हैं। प्रेमचन्द इस परिणाम पर पहुँचे थे कि आगे के लिए

देश को नये नेतृत्व की आवश्यकता है जिसमें स्वार्थ त्याग अधिक हो, जो समाज के निर्धन वर्ग का ठीक-ठीक प्रतिनिधि हो, जो अंत में एक समाजवादी ढाँचे के अनुसार समाज का निर्माण करनेवाला हो।

राष्ट्रीय आन्दोलन की जड़ देश की निर्धनता में थी। उसे अग्रसर होने के लिए वहीं से प्रेरणा मिली थी। प्रेमाश्रम के किसान, कर्मभूमि के निर्धन चमार, इस वर्ग को ही शासन ने सबसे अधिक चूर कर दिया था। इन्हीं की एक बलवती चेष्टा जैसे आन्दोलन के रूप में प्रकट हुई थी। पीढ़ियों से चली आती गरीबी जैसे दूर होने को थी, एक लुभावने स्वप्न ने उनकी आँखों को जैसे मोह लिया था। साथ ही दमन का दुःस्वप्न भी सामने था जो बार-बार कहता, नहीं, यह लुभावना स्वप्न व्यर्थ है, भुलावे में मत आओ। और अन्त में उस दुःस्वप्न के बाद वही पहलेवाला नग्न यथार्थ फिर रह गया। मध्यवर्ग ने साथ दिया; शहर की दूकानों में भले घर की महिलाओं ने धरना दिया, अपमान सहा। जहाँ-तहाँ उच्च धनिक वर्ग ने भी सहयोग दिया। परन्तु आन्दोलन में कुछ ऐसी कमी थी, कि वह निर्धन वर्ग के कष्ट दूर न कर सका। राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ सही, परन्तु जैसे वह उच्च वर्गों के ही लिए। प्रेमचन्द की आन्दोलन के बाद की रचनाओं में जन-आन्दोलन का रूप राष्ट्रीय नहीं है; वह केवल आर्थिक है, निर्धन वर्ग की रोटी की पुकार है। एक नये सिरे से आर्थिक संगठन का आदर्श उन्होंने देश के सामने रख दिया है; परन्तु उसके लिए अभी सामूहिक चेष्टा नहीं दिखाई देती। वर्गों का उत्पीड़न चलता ही रहता है। प्रेमचन्द में अथवा उनके युग में नये नेतृत्व का निर्माण नहीं होता, न वह जनता को दूसरी राह से आगे बढ़ने का आदेश

करता है। उनका युग वहीं समाप्त हो जाता है परन्तु प्रेमचन्द उसकी कमियों को भली भाँति अपने पाठकों के सामने रख जाते हैं, जिससे आगे के लिए जनता और उसके नेता उचित शिक्षा ग्रहण कर सकें और आन्दोलन को अधिक सफल बना सकें।

समाज से बहिष्कृत

समाज में सबसे निर्धन वर्ग किसानों का है परन्तु उससे इतर एक और वर्ग है जो संपत्ति और मान-सम्मान में उससे भी गया बीता है यह वास्तव में वर्ग नहीं, क्योंकि वर्ग से एक संगठन का बोध होता है; इस वर्ग की सबसे बड़ी विशेषता विश्रृङ्खलता है। जैसा कि प्रेमचन्द ने कर्मभूमि में लिखा है, किसान के लिए खेती एक सम्मान की वस्तु है। चाहे आधे पेट दिन बीतें, चाहे कर्ज से सुलझने की सात जनम भी संभावना न हो, फिर भी किसान होकर वह गृहस्थ है। 'यह गर्व उसकी सारी दुर्गति की पुरौती कर देता है।' परन्तु किसानों से इतर, समाज से बहिष्कृत प्राणियों के इस वर्ग में दुर्गति तो है, पर उसकी पुरौती का कोई साधन नहीं है। इस वर्ग में समाज के दलित, चमार, मेहतर आदि तथा समाज में फैले आवारे, भिखमंगे और अनाथ बच्चे आते

हैं। प्रेमचन्द की सहानुभूति सहज ही उनकी ओर ढर आई है। समाज के विभिन्न वर्गों के चित्रण में उन्हें भी स्थान मिला है। वे किसी विस्तृत परिमाण पर किये गये आन्दोलन में भाग नहीं लेते, सामाजिक क्रान्ति में उनका विशेष महत्त्व हो, ऐसा भी नहीं, फिर भी सामाजिक परिवर्तन में उन्हें भुलाया नहीं जा सकता। हरिजन-आन्दोलन की महत्ता जो गांधीजी के लिए है, वह शायद प्रेमचन्द के लिए न थी; स्वराज्य-प्राप्ति का साधन उनके लिए राष्ट्रीय आन्दोलन था, न कि हरिजन-उद्धार। फिर भी उसका चित्रण प्रेमचन्द ने किया है और सामाजिक क्रान्ति के लिए उसकी यथोचित महत्ता को भी स्वीकार किया है। उनके चित्रण में विशेषता यह है कि अन्य रोमांटिक लेखकों की भाँति उन्होंने अपने आवारों को आदर्शरूप में नहीं रखा, न समाज के शिक्षित व्यक्तियों को उनकी तुलना में नितान्त अधम और पातकी ही बताया है। स्वार्थ-सेवा, आलस्य, व्यसनों से प्रेम आदि उनमे दुर्गुण हैं, परन्तु ये दुर्गुण उस कलुषित सामाजिक व्यवस्था की ओर इंगित करते हैं, जिससे वे उत्पन्न होते हैं।

प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कहानी 'कफ़न' इसका उदाहरण है। प्रसव-वेदना से छटपटाती बुधिया की चीखें सुन माधव के मुँह में यही बात आती है, 'मरना ही है तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती!' उसके तड़पने चीखने से उसका मर जाना ही अच्छा है। माधव आदर्श से दूर पूरा यथार्थवादी है; जीवन के प्रश्न इसी तरह जल्दी सुलझ जाने चाहिये। माधव और उसका बाप घीसू अपने आलस्य के लिए प्रसिद्ध हैं। जब लंघन होने लगते तो लकड़ी तोड़ने चलते या मजूरी ढूँढते; नहीं तो घर में पड़े रहते। कर्ज़ माँगते और मौका लगने पर आलू मटर भी खेतों से चुरा लाते। माधव का ब्याह हुआ था तो औरत गृहस्थी में

सहायता देने लगी थी; वैसे ही इन दोनों का आलस भी बढ़ गया था। कोई काम को बुलाता तो दूनी मजूरी माँगते परन्तु जब वह स्त्री मर रही थी तो दोनों सोचते थे कि मर जाय तो आराम से सोयें। एक दूसरे को कोंच रहा था कि वह भीतर जाकर औरत का हाल देख आवे परन्तु दोनों ही टालते रहे कारण कि राख में आलू गड़े थे और वे समझ रहे थे कि एक भीतर गया तो दूसरा बहुत से आलू साफ़ कर देगा।

प्रेमचन्द ने इस जघन्य आलस्य और स्वार्थपरता का कारण बताया है। ये चमार देखते थे कि एक ओर किसान जीतोड़ परिश्रम करते हैं परन्तु उनकी दशा हमसे अच्छी नहीं है, दूसरी ओर किसानों की मेहनत से लाभ उठानेवाले मौज करते हैं; इसलिये वे इसी नतीजे पर पहुँचे कि भूखों ही मरना है तो बिना काम किये मरा जाय, काम भी करें और भूखों भी मरें तो फ़ायदा क्या? अपनी गरीबी में उन्हें सन्तोष था कि उनकी मेहनत से कोई बेजा फ़ायदा नहीं उठा रहा। और इसीलिए जब सवेरे उनकी स्त्री के मर जाने पर गाँव से कफ़न के लिये उन्हें पैसा मिलता है तो वे कफ़न न खरीद कर पूड़ी खाते हैं और ताड़ी पीकर नाचते-गाते हुए बेहोश होकर गिर पड़ते हैं। गिरते-गिरते इस अधम अवस्था को पहुँची मनुष्यता के लिये समाज की वह व्यवस्था उत्तरदायी है जिसमें मेहनत करनेवाले भूखों मरते हैं और आलसी और निकम्मे उससे फ़ायदा उठाते हैं। इन चमारों में और समाज के उन अमीर आलसियों में अन्तर इतना है कि एक असफल हैं, दूसरे सफल! घीसू में 'यह शक्ति न थी कि बैठक बाज़ों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहाँ उसकी मंडली के और लोग गाँव के सरग़ना और मुखिया बने हुए थे, उस पर सारा गाँव उँगली उठाता था।'

मानसरोवर के दूसरे भाग में छपी प्रेमचन्द की एक सुन्दर कहानी है, 'दूध का दाम'। बाबू महेशनाथ गाँव के जमींदार थे। उनके बच्चों को सौर में दूध पिलाने मूँगी मेहतरानी आती थी। तीन कन्याओं के बाद राम-राम करते महेशनाथ के लड़का हुआ। दूसरे के बच्चे को पालती थी, अपना बच्चा दुबला होता जाता था। दुर्भाग्य से मूँगी के पति गूदड़ की मृत्यु हो गई और कुछ वर्षों के बाद मूँगी को साँप ने डस लिया। बचपन में ही उसका लड़का मंगल अनाथ हो गया। जमींदार के दरवाजे एक नीम के नीचे वह पड़ा रहता। जाड़ा गर्मी बरसात में वह धीरे-धीरे बढ़ने लगा। उसके साथ एक कुत्ता था जो उसी की भाँति अनाथ और अपने समाज में तिरस्कृत था। दोनो में सहज ही मैत्री हो गई। साथ ही जमींदार के लड़के सुरेश ने भी मंगल से दोस्ती करनी चाही लेकिन निभी नहीं। सुरेश मंगल को घोड़ा बनाकर उस पर सवारी करना चाहता था परन्तु मगल राज़ी न हुआ। फल यह हुआ कि मंगल की शिकायत हुई और उसे वहाँ से निकल जाने की आज्ञा मिली। मंगल में मानापमान की भावना न थी; गाली खाकर उसे निकलना ही पड़ा। अपने सकोरे और टाट का टुकड़ा उठाकर वहाँ से वह चल दिया।

टामी के साथ मंगल दूर चला आया परन्तु भूख जोर मारने लगी। टामी और मंगल में मौन संभाषण होने लगा। मंगल सुरेश के घर की जूठन की कल्पना करने लगा, वह जूठन व्यर्थ ही घूरे पर फेंक दी जायगी। अन्त में भूख से व्याकुल मंगल फिर सुरेश के घर चला। अँधेरे में दुबककर एक ओर खड़ा हो गया। देखा, सुरेश और महेश भोजन कर रहे हैं। नौकर आपस में खुश हो रहे थे कि मंगल चला गया, सबेरे सबेरे भंगी का मुँह देखना पड़ता था। कहार पत्तल में

जूठन बटोरकर फेंकने जा रहा था ; तब मंगल सामने आया। कहार ने पत्तल मंगल को दे दी। मंगल ने अपने साथी कुत्ते का सिर सहला कर कहा—'देखा, पेट की आग ऐसी होती है। यह लात की मारी हुई रोटियाँ भी न मिलतीं, तो क्या करते !' और मंगल ने याद किया, सुरेश को उसकी माँ ने पाला था जब कि वह स्वय भूखा रखा गया था। दूध का यही दाम उसको मिला था। यह संसार का वही पुराना व्यापार था। दूसरे की सेवा पर जीनेवाले स्वार्थियों की समाज-व्यवस्था जो मनुष्य में मानापमान की भावना नहीं रखती, उनमें केवल भय रह जाता है। जूठन को छोड़कर वह भागना चाहता है, परन्तु पेट की आग उसे फिर वहीं खींच लाती है, बराबर आघात होने से कुंद हुई मनुष्यता उसे वहाँ आने से रोक नहीं पाती।

'प्रेम का उदय' (प्रेरणा) कहानी में प्रेमचंद ने कंजड़ों के जीवन का चित्र दिया है। अपने भैंसे और गधों के साथ यहाँ वहाँ चलते हुए ये अपना जीवन विताते हैं। पुलिस की निगरानी होने पर भी इनका मुख्य धंधा चोरी है। उनके सामाजिक आदान-प्रदान सब अपनी ही बस्ती मे होते हैं। 'इस दुनिया के बाहर वाला अखिल संसार उनके लिए केवल शिकार का मैदान था।' अपने सिरकियों के डेरे डालकर ये गाँवों शहरों के बाहर कुछेक दिन को टिक जाते ; उस 'तीन हाथ चौड़ी और चार हाथ लंबी सिरकी के अंदर एक-एक पूरा परिवार, जीवन के समस्त व्यापारों के साथ, कल्पवास से' करता रहता। इन्हीं में एक भोंदू कंजड़ था जो सबसे अलग मेहनत करके जीना चाहता था। कभी मजूरी मिलती कभी न मिलती ; इसी से उसकी स्त्री बंटी उससे बहुत असंतुष्ट थी। दूसरी औरतों को बना-ठना देखकर उसे सहज ही ईर्ष्या होती। उसने अपने पति को धमकी दी,

कि अगर वह उसके बनाव-सिंगार के लिए और सचेष्ट न होगा तो वह उसे छोड़ देगी। निदान भोंदू ने चोरी की और पकड़ा गया। वह चोरी स्वीकार न करता था, तब पुलिस ने उसे अनेक प्रकार की यंत्रणा दी; बंटी भी बुलायी गयी। पति की यंत्रणा देख उसने चोरी का हाल बता दिया। अंत में बंटी की ईर्ष्या शांत हो जाती है और कमाने में वह भी पति से योग देने लगती है। कजड़ों के जीवन की अस्थिरता, उनकी निर्धनता और असमाजिकता तथा संगठित समाज की उनके प्रति असहानुभूतिपूर्ण दृष्टि का प्रेमचंद ने मार्मिक चित्रण किया है।

'मंत्र' (पाँच फूल) कहानी में एक बूढ़ा गरीब अपने लड़के को दिखाने डा० चड्ढा के पास आता है। डा० साहब उसे देख नहीं सकते क्योंकि उनके खेलने का समय हो गया है। लड़का मर जाता है। एक दिन डा० चड्ढा के लड़के को साँप काटता है; सारे उपचार व्यर्थ जाते हैं। बूढ़ा साँप का विष झारता था। उसे भी खबर लगी वह प्रसन्न हुआ कि भगवान ने बदला ले लिया। बुढ़िया से इस प्रसन्नता में एक चिलम और भरने को कहा। आधी रात हो गई थी। बुढ़िया तो सो गई परन्तु बूढ़े को नींद न आई। आज यह पहला अवसर था जब साँप काटने का समाचार सुनकर वह घर पर बैठा रहा था। अंत में वह चला और उसके उपचार से डा० साहब का लड़का अच्छा भी हो गया। परन्तु जब लोग लड़के के जीने की खुशियाली में थे, तभी वह वहाँ से चल दिया, डा० चड्ढा के प्रति उसी घृणा से भरा हुआ, उनके इनाम-इकराम की रंच भर भी चिंता न करता हुआ। चाहे इसे बूढ़े की सहृदयता कहें, चाहे उसका स्वभाव जो उसे साँप काटने का हाल सुनते ही यहाँ तक खींच लाया, उसका कार्य डा० चड्ढा से कहीं उदार था। फिर भी एक

डा० चड्ढा हैं जिनके दवाखाने की साफ-सुथरी जमीन पर बूढ़े को पैर रखते भी भय हो रहा था कि कहीं कोई घुड़क न बैठे। दूसरा वह बूढ़ा है जिसके घर में न खटिया है न बिछौना ; थोड़े से पुआल में बूढा-बुढ़िया जाड़ा काटते थे। बुढ़िया सूखी लकड़ियाँ और उपले बटोरती और बूढ़ा सन बटता। प्रेमचन्द ने उनके जीवन की नीरसता का बोध कराते हुए लिखा है—'उन्हें न किसी ने रोते देखा, न हँसते। उनका सारा समय जीवित रहने में कट जाता था।' कल की चिन्ता थी, सन उधार मिलेगा नहीं, पहले के पैसे नहीं दिये। फिर भी बूढ़ा डा० के लड़के को अच्छा करने गया ; वहाँ से बहुत-सा रुपया पा सकता था, परन्तु उसकी घृणा उसे वहाँ से खींच लाई। और कल फिर वही जीते रहने की समस्या उसके सामने थी।

'जुरमाना' (क़फ़न) कहानी में म्यूनिसिपैलिटी के मेहतरों का चित्रण किया गया है। एक मेहतरानी अलारखी है जिससे दरोगा हमेशा नाराज रहते हैं और हर महीने जुरमाना किया करते हैं। एक दिन हठात् उसके मुँह से दरोगा के लिए गाली निकल जाती है और तब दरोगा सीधे हो जाते हैं। महीने के अन्त में तनखाह बटने के दृश्य का प्रेमचन्द ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।' हज़ारों मेहतरानियाँ जमा थीं, रंग-बिरंग के कपड़े पहने, बनाव-सिंगार किये। पान सिगरेट-वाले भी आ गये थे, खंचेवाले भी। पठानों का एक दल भी अपने आसामियों से रुपये वसूल करने आ पहुँचा था।' अलारखी को जब पूरी तनखाह मिलती है, तब वह खड़ी की खड़ी रह जाती है, क्योंकि तीन साल में ऐसी घटना एक बार भी न हुई थी।

'ठाकुर का कुँआ' (समरयात्रा) गाँव की एक साधारण समस्या की कहानी है ; ऊँची जाति के लोगों के कुएँ पर चमारों को पानी नहीं

भरने दिया जाता। जोखू बीमार था ; चमारों के कुए में कोई जानवर गिरकर मर गया था, उसका बदबूदार पानी जोखू से पिया न गया। उसकी स्त्री रात में छिपकर ठाकुर के कुए से पानी भरने गई। घड़ा जगत तक आया ही था कि ठाकुर के घर का दरवाज़ा खुला। मारे भय के उसके हाथ से घड़ा छूटकर कुँए मे गिर पड़ा और वह घर की ओर भागी। ठाकुर कौन है, कौन है, की पीछे पुकार लगाते ही रहे। उस स्त्री का यह भय, चमारों के जीवन की यह छोटी सी घटना, उन पर पीढ़ियों से होते आते अत्याचार की ओर इंगित करती है।

'सद्गति' (प्रेरणा) में उन्होंने चमार के हृदय में समाये हुए युग-युग के अंधविश्वास और ब्राह्मण के प्रति उसकी श्रद्धा को अंकित किया है। दुखी चमार लड़की के ब्याह के लिये साइत विचराने एक पंडित के यहाँ जाता है। घास का गट्ठर नजराने में ले जाता है। पण्डितजी के दरवाजे झाड़ू लगाता है, गोबर से लीपता है, खलिहान से भूसा उठाता है और लकड़ी चीरता है। पण्डिताइन उसके भोजन के लिए प्रस्ताव करती हैं, परन्तु पंडित यह सुझाकर कि वह सेर भर अन्न खा जायगा, प्रस्ताव को रद कर देते हैं। लकड़ी में गाँठ थी, फाड़े न फटती थी। पंडितजी भोजन के बाद सोकर उठे और दुखी को ललकारा। दुखी जी छोड़कर कुल्हाड़ी चलाने लगा। भूखे पेट उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो रही थीं परन्तु कन्या के विवाह का विचार उससे जरबन काम कराये जाता था। 'पेट, पीठ में धँसा जाता था, आज सवेरे जलपान तक न किया था। अवकाश ही न मिला। उठना भी पहाड़ मालूम होता। जी डूबा जाता था ; पर दिल को समझा कर उठा। पण्डित हैं, कहीं साइत ठीक न विचारें, तो फिर सत्यानाश ही हो जाय। जभी तो संसार मे इतना मान है। साइत ही का तो सब खेल

है, जिसे चाहें बना दें, जिसे चाहें बिगाड़ दें।' ब्राह्मण के प्रति यही श्रद्धा उसके प्राण ले लेती है। लेकिन फिर समस्या उठ खड़ी हुई लाश उठाने की। ब्राह्मण ठाकुर का चमार की लाश उठाना तो कल्पना से परे था ही; एक गोंड़ ने चमारों को भी मना कर दिया कि लाश न उठायें नहीं तो पुलिस उन्हें पकड़ लेगी, पंडित ने चमार की जान ली है, फँसने दो! पंडितजी ने बहुत समझाया परन्तु चमारों में कोई लाश उठाने को राजी न हुआ; उल्टे चमारिनें आकर वहाँ रोने चिल्लाने लगीं और वह होहल्ला सुनते-सुनते पंडिताइन के कान पक गये। पंडित को भी गाँव के आदमी ठेना देने लगे। उधर से कुएँ की राह थी, चमार की लाश के कारण लोग पानी भरने न जा सकते थे। धीरे-धीरे लाश की दुर्गन्ध भी फैलने लगी। अन्त में पंडितजी ने ही हिम्मत कर रात में उसके पैर में रस्सी का फन्दा कसा और उसकी लाश को गाँव के बाहर घसीटकर डाल आये। लौटकर स्नान किया, दुर्गापाठ पढ़ा और गंगा-जल छिड़का। 'उधर दुखी की लाश को खेत में गीदड़ और गिद्ध, कुत्ते और कौए नोच रहे थे। यही जीवन-पर्यन्त की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था।' जिस ब्राह्मणत्व ने दुखी चमार के हृदय में श्रद्धा और आतंक भर दिया था, उसी का यह वीभत्स चित्र पाठक के सामने आता है। आर्थिक शोषण की जड़ मजबूत रखने के लिए धार्मिक ढकोसले अपनी पूरी शक्ति से सहायता करते हैं। जब इन शोषकों के हित में ठेस लगती है, तब वे प्रेमचन्द को घृणा का प्रचारक कहते हैं। महाजनों, जमींदारों, महन्त-पंडितों के प्रति प्रेमचन्द ने बराबर घृणा दिखाई है, परन्तु यह घृणा उनके वर्ग के प्रति है, उनके शोषण के प्रति। इन्हीं वर्गों से अपनी प्रशंसा के लिए भी उन्होंने पात्र चुने हैं। यह स्वाभाविक है कि

अधिकतर उनकी सहानुभूति पीड़ितों के साथ रही है।

कर्मभूमि के दूसरे भाग में चमारों की उस बस्ती का वर्णन है जहाँ अमरकांत अपना घर छोड़कर रहने आता है। बीस-पच्चीस झोंपड़ों का यह गाँव था। 'पत्थर के रोड़ों को तले-ऊपर रखकर दीवारें बना ली गई हैं। उन पर छप्पर डाल दिया गया है। द्वारों पर बनकट की टट्टियाँ हैं। उन्हीं काबुकों में उस गाँव की जनता अपने गाय-बैलों, भेड़-बकरियों को लिये अनन्त से विश्राम करती चली आती है।' अमरकांत इन्हीं झोंपड़ों में रहना सीखता है। देश की दरिद्रता अपने चरम वीभत्स रूप में उसके सामने आती है। गन्दे घरों में अमरकांत अपने हाथ से झाड़ू देता है और वहाँ के रहनेवालों को सफ़ाई से रहना सिखाता है। वहीं वह एक छोटी सी पाठशाला खोलता है जहाँ चमारों के लड़के पढ़ने आते हैं। यहीं एक दिन चमार खाने के लिए एक मुर्दा गाय लाते हैं। बच्चे गाय को देखकर उछलने कूदने लगते हैं। अमरकांत के भीतर ऐसी भयानक प्रतिक्रिया होती है कि उसका सुधारवाद लुप्त हो जाता है और वहाँ से वह भाग जाना चाहता है। उसकी सहायता के लिए मुन्नी आती है और गाय के आगे सत्याग्रह करती है। चमार गाय खाना चाहते हैं परन्तु अमरकांत को देख उनमें से कुछ गाय-माँस खाने का विरोध करते हैं। मुन्नी का हठ चरम सीमा को पहुँच जाता है; लोग उसे गाय से अलग घसीटकर दूरकर देना चाहते हैं परन्तु इससे दूसरा दल मज़बूत हो जाता है और अन्त में उस दल की ही विजय होती है। गाय का मांस नहीं खाया जाता। चमारों की अशिक्षा, अन्धविश्वास, उनकी ग़रीबी और गन्दगी, उनके रीति-रिवाजों आदि का प्रेमचन्द ने यहाँ एक वृहत् चित्र तैयार किया है। समाज के इन बहिष्कृतों से प्रेमचन्द ने अपनी सहानुभूति ही नहीं

दिखाई, अपने यथार्थ चित्रण से उस वर्ग से आत्मीयता का परिचय दिया है और अमरकांत को वहाँ भेजकर उसे शिक्षा, लगानबन्दी आदि में भाग लेता दिखाकर ऐसे कार्य की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है और उसे पूरा करने की प्रणाली पर प्रकाश डाला है।

कर्मभूमि के तीसरे भाग में प्रेमचन्द ने शहर के अछूत आन्दोलन-का चित्र पाठक के सामने रक्खा है। एक ठाकुरद्वारे में कई दिन से कथा हो रही थी; एक दिन एक ब्रह्मचारीजी ने देखा कि श्रोताओं के पीछे कुछ अछूत भी बैठकर कथा सुनने आते हैं। ब्रह्मचारीजी जब उन्हें उठाने लगे तो और लोगों का भी ध्यान उधर गया। लाला समरकांत ने सभों को मारकर निकाल देने की आज्ञा दी। एक बूढ़े अछूत ने कहा कि वे लोग तो जूतों के पास बैठे थे। परन्तु ब्रह्मचारीजी के लिए जूता पवित्र था, जूता बनानेवाला अपवित्र। यहाँ से वहाँ तक एक दरी बिछी हुई थी और इसलिए प्रसाद, चरणामृत आदि सभी नष्ट हो गया था। जब लोगों को मालूम पड़ा कि ये लोग रोज़ ही आकर उस मन्दिर को इस प्रकार भ्रष्ट किया करते थे तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। पवित्र जूते उठाकर अपवित्र चमारों को मारने लगे। कुछ अछूतों के समर्थक जूतों का जवाब डंडों से देनेवाले थे, कि डॉ० शांतिकुमार ने वहाँ पर शांति स्थापित की। शांतिकुमार ने ब्रह्मचारी और उनके भगवान दोनों को ललकारा। 'अन्धभक्तों की आँखों में धूल झोंककर यह हलवे बहुत दिन खाने न को मिलेंगे, महाराज! अब वह समय आ रहा है, जब भगवान भी पानी से स्नान करेंगे, दूध से नहीं।' इसके बाद शांतिकुमार अपनी मंडली के साथ वहाँ से चले गये और कथा भी आगे न बढ़ सकी।

दूसरे दिन शांतिकुमार ने अछूतों को मन्दिर में ठाकुरजी के

दर्शन करने के लिए उत्तेजित किया। मन्दिर का प्रश्न जितने महत्व का उच्च वर्ग या अछूतोद्धारकों के लिए है, उतना शायद स्वयं अछूतों के लिए नहीं। शांतिकुमार के शब्द बारूद में चिंगारी का काम रहे थे, फिर भी 'लोगों ने पगड़ियाँ सँभालीं, आसन बदले और एक दूसरे की ओर देखा, मानो पूछ रहे हों—चलते हो या अभी कुछ सोचना बाकी है। और फिर शान्त हो गये। साहस ने चूहे की भाँति बिल से सिर निकालकर फिर अन्दर खींच लिया।' कुछ ने यह भी कहा—'अपना मन्दिर लिये रहें, हमें क्या करना है।' परन्तु नैना और शान्तिकुमार उन्हें बराबर उत्तेजित करते रहे और अन्त में लोग उठकर ठाकुरजी के दर्शन करने चले। मन्दिर के ठाकुरजी, और ठाकुरजीवाला धर्म कितना निर्जीव है यह लोगों के निरुत्साह से प्रकट होता था। 'ज्यों ज्यों मन्दिर समीप आता जाता था, लोगों की हिम्मत कम होती जाती थी। जिस अधिकार से ये सदैव वञ्चित रहे, उसके लिए उनके मन में कोई तीव्र इच्छा न थी। वह विश्वास जो न्यायज्ञान से पैदा होता है, वहाँ न था। समूह की धौंस जमाकर विजय पाने की आशा ही उन्हें आगे बढ़ा रही थी।' चमारों के लिये सबसे महत्त्व-पूर्ण प्रश्न ठाकुरजी का नहीं है; जिस प्रश्न से उनकी दशा का निकट सम्बन्ध है, वह आर्थिक है। चमार मन्दिर में जाने लगे तो पण्डे पुजारियों की ही आय बढ़ेगी; चमारों का क्या भला होगा! ठाकुरजी के प्रसाद से उनका पेट तो भरेगा नहीं; मोहनभोग पण्डों के लिए ही रहेगा। अछूतों की समस्या के आर्थिक पहलू पर प्रेमचन्द ने कर्मभूमि में अन्यत्र प्रकाश डाला है।

भीड़ मन्दिर तक पहुँची। शान्तिकुमार और पुजारियों में मौखिक युद्ध हुआ, उसके बाद डण्डों से प्रहार हुआ। भगदड़ पड़ गई और

शान्तिकुमार डण्डा खाकर वहीं गिर पड़े। जो काम ठाकुरजी ने न किया वह मनुष्य ने किया। बात ठाकुरजी ही तक रहती तो लोग मार खाकर शायद घर बैठ रहते, परन्तु शान्तिकुमार के चोट आ गई थी इसलिए अब आन का प्रश्न हो गया और चमारों ने संगठित होकर मन्दिर पर धरना देना शुरू किया। यही नहीं, उन्होंने मन्दिर में दर्शन के लिए जानेवालों का मार्ग ही बन्द कर दिया। नतीजा यह हुआ कि पुलिस बुलाई गई और कप्तान ने फायर करने का हुक्म दे दिया। गोलियों के आगे चमार डटे रहे परन्तु उन्हें उत्तेजित करने-वाले कुछ नेता भाग खड़े हुए। स्वामी आत्मानन्द ने नैना को बताया, वह किस प्रकार गलियों से भागते हुए जान बचा पाये थे। नैना ने अपने मन में कहा—'यह महाशय सन्यासी बनते हैं, फिर भी इतने डरपोक! पहले तो गरीबों को भड़काया और जब मार पड़ी, तो सबसे आगे भाग खड़े हुए।' अन्त में अछूतों का नेतृत्व करने के लिए सुखदा आई; अपनी बहू पर लाला समरकान्त भी गोली न चलवा सकते थे। निदान अछूतों की विजय हुई। लाशें गंगा के किनारे जला दी गईं और दूसरे दिन मन्दिर में भारी समारोह हुआ। यह प्रेमचन्द की सूक्ष्म दृष्टि थी जिसने इस मन्दिर-प्रवेश के आर्थिक पहलू को भी देखा। इस समारोह से किसे लाभ था, चमारों को या पण्डे पुजारियों को? ठाकुरजी की उपासना ठेकेदार वही रहे; लगान-वसूली में बढ़ती हुई। 'ब्रह्मचारी आज फिर विराजमान हो गये थे, और जितनी दक्षिणा उन्हें आज मिली, उतनी शायद उम्र-भर में न मिली होगी।' इसलिए स्वाभाविक था कि 'उनके मन का विद्रोह बहुत कुछ शान्त हो गया।'

अछूतोद्धार के लिए मन्दिर-प्रवेश अवश्य ही प्रेमचन्द के लिए

बहुत महत्व का साधन न था। देश में जैसा आन्दोलन हुआ था, उसका उन्होंने चित्रण किया है। चमारों ने डण्डे और गोलियाँ खाईं; फलस्वरूप उन्हें मन्दिर में जाने की आज्ञा मिल गई परन्तु इससे जेब भरी पुजारी ही की। प्रेमचन्द ने इस गान्धीवादी हरिजनोद्धार से अलग उचित कार्यक्रम के लिए दूसरा मार्ग दिखाया है। वह है उनमें नवयुवकों द्वारा शिक्षा प्रचार का। इस सफाई और पढ़ाई-लिखाई का ध्येय भी उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता देना ही है। इसीलिए अमरकान्त के आरम्भिक कार्यों की परिणति लगान-बन्दी आन्दोलन में होती है। यद्यपि प्रेमचन्द ने स्पष्ट कर दिया है कि प्रचलित रीति से लगान-बन्दी का आन्दोलन चलाने पर उसकी सफलता निश्चित नहीं है, फिर भी उन्हें उस समस्या की महत्ता में कोई सन्देह नहीं है। प्रेमचन्द ने जहाँ जहाँ अछूतों आदि के चित्र दिये हैं, वहाँ वे उनकी हीनता के आर्थिक कारणों की ओर इंगित करना नहीं भूले। उनमें गन्दगी है, घिनौनापन है, अमानुषिकता है, आलस्य है, चोरी शराब के दुर्गुण हैं, मरे जानवरों का वे मांस खाते हैं, परन्तु क्यों? इसलिए कि समाज का उच्च वर्ग इसी कोटि के पाप करने के लिए स्वछंद है। उस वर्ग के उत्पीड़न ने इन्हें नितांत निर्धन और निर्बल बना दिया है; साथ ही उनके आगे आलस्य और अमानुषिकता का आदर्श भी रखा है। कफन के घीसू और माधव का तर्क समाज-व्यापी तर्क है। समाज के सम्पन्न व्यक्ति हमारे आगे परिश्रम और ईमानदारी का आदर्श नहीं रखते। धोखाधड़ी पर उनका मान-सम्मान स्थिर है। नैना के शब्दों में 'आधी रात तक इसी मन्दिर में जुआ खेलते हो, पैसे-पैसे पर ईमान बेचते हो, झूठी गवाहियाँ देते हो, द्वार-द्वार भीख माँगते हो, फिर भी तुम धर्म के ठेकेदार हो। तुम्हारे तो स्पर्श से ही देवताओं को कलंक

लगता है।' ये देवताओं को कलंकित करनेवाले मन्दिरों में बने ही रहते हैं, मन्दिर-प्रवेश से लाभ क्या होगा ? इनकी मदद के लिए मोटे-मोटे सेठ हैं जो निरीह प्राणियों पर गोलियाँ चलवाते नहीं झिझकते। 'जिस धर्म की रक्षा गोलियों से हो, उस धर्म में सत्य का लोप समझो !' फिर इस सत्यहीन धर्म की रक्षा किसलिए ? उसकी रक्षा करनेवाले सेठों की आवश्यकता किसलिए ? अमरकांत के कटु शब्दों में 'तुम सब मोटी तोंदवाले हरामखोर हो, पक्के हरामखोर हो ! तुम मुझे नीच समझते हो ! इसलिए कि मैं अपनी पीठ पर बोझ लादे हुए हूँ। क्या यह बोझ तुम्हारी अनीति और अधर्म के बोझ से ज़्यादा लज्जास्पद है, जो तुम अपने सिर पर लादे फिरते हो और शर्माते ज़रा भी नहीं।' और जब तक समाज से इस हरामखोरी का अंत न होगा तब तक समाज के इन बहिष्कृतों का उद्धार भी असम्भव है।

समाज की मर्यादा

प्रेमचन्द के समाज-सुधार का केन्द्र था परिवार। समाज के प्रति उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ पुराना था, अर्थात पुराने आदर्शों को भूमिसात् किये बिना ही वह समाज के संगठन में परिवर्तन करना चाहते थे। पुराने आदर्शों के वे अन्धभक्त न थे, यह तो सभी पर प्रकट है; उन आदर्शों में जो अच्छा था, प्रेमचन्द उसे ग्रहण करने के पक्ष में थे। प्रेमचन्द ने उन छोटी-छोटी समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया है जो नित्यप्रति जीवन में आती हैं और न सुलझने पर उसे बहुत कुछ विशृंखल बना देती है। इन अच्छे आदर्शों में संयुक्त परिवार के आदर्श को प्रेमचन्द अपने देश के लिए हितकर समझते थे और उसे बनाये रखने पर उन्होंने ज़ोर दिया है। इससे पारस्परिक प्रेम-भाव ही नहीं बढ़ता, आर्थिक समस्या के सुलझने में भी बहुत कुछ सहायता

मिलती है। विशेषकर गाँवों मे अकेले आदमी को खेती करने में बड़ी कठिनाई होती है। संयुक्त परिवार में लड़ाई झगड़ा होने पर भी किसानों का काम सरल हो जाता है। और गाँवों में आये दिन किसी न किसी रूप मे बटवारे की समस्या प्रत्येक परिवार में उठ खड़ी होती है। और यह भी सिद्ध करने की बात नहीं है कि गाँव में जहाँ चार भाई एक साथ रहते हैं, वहाँ वे उनसे अधिक समृद्ध होते हैं, जो अलग-अलग रहते हैं। प्रेमचन्द की अधिकांश बटवारे की कहानियाँ किसानों से ही संबन्ध रखती हैं। प्रकृति और शासन की शक्तियों से युद्ध करते किसान के लिए संयुक्त परिवार की आत्मीयता का महत्व होता है, उतना शहर के रहनेवाले के लिए नहीं। एक परिवार में रहनेवाले धीरज से काम लेकर दूसरे की भली-बुरी बात सुनकर समाई करनेवाले, आपस में लड़-झगड़कर भी गृहस्थी की गाड़ी चला ले जाते हैं। इसीलिए प्रेमचन्द के लिये संयुक्त परिवार का आदर्श इतना महत्वपूर्ण रहा है।

बटवारे के अनेक कारण होते हैं। उनमें स्त्रियों की आपसी तकरार मुख्य है। गाँव के बड़े-बूढ़े अपने बच्चों को सिखाते हैं कि मिलकर रहना हो तो औरत की बात पर कभी कान न देना। और इस कहनूति में तथ्य है। प्रेमचन्द की 'अलग्योझा' (मानसरोवर, प्रथम भाग) कहानी में नई बहू के कारण झगड़ा होता है। पन्ना और उसके बच्चे तथा सौतेले लड़के रघू में खूब मेल-मिलाप है, परन्तु पन्ना रघू के ब्याह की ज़िद करती है। बहू आती है और आपस की रार बढ़ती है। बटवारा होता है, दोनों दल नुकसान मे रहते हैं। परिश्रम और चिन्ता से रघू की मृत्यु हो जाती है और तब उसकी स्त्री को अपनी भूल का ज्ञान होता है। अन्त में दोनों पक्ष फिर एक हो जाते हैं। प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कहानी 'बड़े घर की बेटी' में

बड़े भाई की स्त्री और छोटे भाई में तकरार होती है और भाइयों में भी अलगाव-सा होता है, परन्तु बाद में सब एक हो जाते हैं। यहाँ पर उन्होंने भारतीय परिवार के मनोभावों का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। 'दो भाई' (प्रेमपूर्णिमा) में भाइयों के वैर और उसके घातक परिणाम की कथा है। 'वैर का अन्त' कहानी में दो भाइयों के परिवारों में वैर चला करता है ; उनमें से एक की मृत्यु के बाद उसका परिवार अनाथ हो जाता है। अन्त में दूसरे को अपनी भूल मालूम होती है और दोनो परिवार फिर एक हो जाते हैं। 'गृह-नीति' (मानसरोवर, दूसरा भाग) में पारिवारिक संघर्ष और उसका गृहपति की चतुर नीति से सुलझना दिखाया गया है।

पारिवारिक संघर्ष का एक कारण अनेक घरों में विमाताओं का होता है। प्रेमचन्द ने अच्छी भली दोनो ही तरह की विमाताओं के चित्र दिये हैं। केवल विमाता होने से कोई स्त्री बुरी हो, यह धारणा उन्होंने नहीं बंधने दी। फिर भी नव-विवाहिता वधू सौतेले लड़कों से स्नेह न करके बहुधा कलह को जन्म देती है। इसका उत्तरदायित्व विवाह करनेवाले पिता पर है। गृहदाह (प्रेम द्वादशी) में सत्यप्रकाश को अपनी विमाता के कारण घर से निकलकर कलकत्ते में दूकान करनी पड़ती है। सत्यप्रकाश और उसके सौतेले भाई ज्ञानप्रकाश में प्रेम है परन्तु विमाता यह प्रेम पनपने नहीं देना चाहती। इस द्वेष का परिणाम परिवार के लिए घातक होता है और बहुत ही हानि हो चुकने के बाद ही दोनों भाई एक हो पाते हैं। दोष सदा विमाताओं का ही नहीं होता। 'घर जमाई' (मानसरोवर पहला भाग) में हरिधन विमाता के नाम से ही चिढ़कर उसके पास नहीं जाता। वह अपनी ससुराल में जाकर

रहता है परन्तु कुछ दिन के बाद उसका मान घटने लगता है और अन्त में खुल्लमखुल्ला उसके अपमान की नौबत आ जाती है। अन्त में ससुराल छोड़कर वह घर आता है और वही परिवार फिर एक हो शांतिपूर्ण जीवन बिताने लगता है। 'विमाता' (प्रेम-पचीसी) मे भी ऐसी ही उदार स्त्री का चित्रण है। रंगभूमि में ताहिरअली और उनकी दो विमाताओं के संघर्ष का कारण विमाताओं की धूर्तता और ताहिर का सीधापन है। वास्तव में संघर्ष जो कुछ भी है विमाताओं और ताहिर की स्त्री में है, ताहिर तो सबको समझाता ही रहता है और अंत में इसी कारण उसे भारी नुक्सान उठाना पड़ता है। अत्यधिक सीधापन भी बुरा होता है; ताहिरअली परिवार को सँभालना चाहते थे परन्तु थोड़ी रुखाई के अभाव में उन्होंने उसे बर्बाद कर दिया।

विमाता के आने से परिवार में कैसी-कैसी गुत्थियाँ पड़ जाती हैं, जिनका मनुष्य के चरित्र पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है इसका आभास एक जगह कर्मभूमि में मिलता है। समरकांत की पहली स्त्री सात साल के बालक को छोड़कर स्वर्ग चली गई। लालाजी ने दूसरा विवाह किया और पुत्र और स्त्री का द्वंद चल पड़ा। नई माता बात-बात पर उसे डाँटतीं; पहले से माँ बाप का लाड़ला होने से वह अदबदा कर उसी बात को करता जिसे माँ मना करती। एक कदम आगे बढ़कर उसने पिता से भी विद्रोह किया। विद्रोह इस सीमा को पहुँचा कि प्रत्येक छोटी-बड़ी बात में वह पिता का विरोध करने लगा और उसके चरित्र का एक विरोधी दशा में ही निर्माण होने लगा। 'लालाजी जो काम करते, बेटे को उससे अरुचि थी। वह पूजा-पाठ बहुत करते थे। लड़का इसे ढोंग समझता था। वह परले सिरे के लोभी थे, लड़का पैसे

को ठीकरा समझता था।' सौभाग्य से विरोध करने के लिए समरकांत में दुर्गुण ही अधिक थे। उनकी जीविका का साधन महाजनी थी, इसलिए महाजनी से अमर को उत्कट घृणा हो गई। 'महाजनी के हथकंडे और षड्यन्त्र उसके सामने रोज़ ही रचे जाते थे। उसे इस व्यापार से घृणा होती थी। इसे चाहे पूर्व संस्कार कह लो; पर हम तो यही कहेंगे, कि अमरकांत के चरित्र का निर्माण पितृ-द्वेष के हाथों हुआ।' अमरकान्त आगे चलकर जो विद्रोही और समाज-सुधार के कार्य करता है, उनका सूत्रपात यहीं उसके परिवार में होता है। इस विश्लेषण से प्रेमचन्द के मनोविज्ञान की सूक्ष्मता और भारतीय परिवार की विभिन्न समस्याओं से उनका परिचय स्पष्ट है। अमरकांत पर और जाने क्या बीतती पर उसके भाई न हुआ, नहीं तो, प्रेमचन्द ने लिखा है, वह घर से निकाल दिया जाता। नई स्त्री के एक लड़की ही हुई और समरकान्त को अपनी सम्पत्ति के लिए एक पुत्र आवश्यक था। वह 'अपनी सम्पत्ति को पुत्र से ज़्यादा मूल्यवान समझते थे। पुत्र के लिए तो सम्पत्ति की कोई ज़रूरत न थी पर सम्पत्ति के लिए पुत्र की ज़रूरत थी।' इसीलिए विमाता की अमर को बनवास देने की इच्छा पूरी न हो सकी। और अन्त में वह एक पुत्र की इच्छा लिए ही स्वर्ग सिधार गईं। समरकान्त ने भी फिर तीसरा ब्याह नहीं किया।

सभी कुटुम्बों में दूसरे विवाह का ऐसा शुभ परिणाम नहीं होता। कभी-कभी नव-विवाहिता की अतृप्त काम-वासना परिवार के लिए भयंकर द्वन्द का कारण होती है। पति के प्रति क्रोध यदि सौतेले लड़के पर निकाला गया तो भलीभला, पर यदि वह बना रहा और सौतेले लड़के पर क्रोध के स्थान में प्रेम हो गया तो समाज की मर्यादा और प्रकृति की प्रेरणा का संघर्ष या तो विमाता या लड़का या पति, एक-न-एक

था सभी के लिए घातक सिद्ध होता है। 'निर्मला' के अधिक भाग में इसी द्वन्द का ऊहापोह किया गया है। निर्मला का ब्याह बाबू तोताराम के साथ हुआ था। उम्र चालीस के करीब थी पर वकालत ने बाल पका दिये थे। स्थूल देह में मंदाग्नि आदि की शिकायतें बनी ही रहतीं। वह दम्पति-विज्ञान में कुशल थे, निर्मला के लिए गहने लाते, खाने को मिठाई मुरब्बे लाते, उसे सैर तमाशे में ले जाते और काम से समय निकालकर उसे ग्रामोफोन सुनाते। निर्मला को बनाव-सिंगार, सैर-तमाशा बुरा न लगता परन्तु वह तोताराम के पास बैठ न सकती थी। इसका कारण यह था कि 'अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुकाकर देह चुराकर निकलती थी; अब उसकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था।' जैसे-जैसे बाबू तोताराम की आसक्ति बढ़ती, वैसे वैसे उनके प्रति निर्मला की उदासीनता और बाद में घृणा बढ़ती गई। गहनों से सजकर आईने में वह जब अपना रूप निहारती तब 'उसका हृदय एक सतृष्ण कामना से तड़प उठता था। उस वक्त उसके हृदय में एक ज्वाला-सी उठती। मन में आता इस घर में आग लगा दूँ।' धीरे-धीरे इस अतृप्ति ने अपनी शांति के लिए तोताराम के बच्चों को अपना लक्ष्य बनाया। पहले-पहल जब निर्मला एक रोते बच्चे को लेकर सोई तो उसे वह तुष्टि मिली जो जीवन में न मिली थी। अपना सारा समय वह बच्चों के लालन पालन में ही लगाने लगी। इन्हीं में सबसे बड़ा लड़का मंसाराम था जो अवस्था में निर्मला के बराबर था, परंतु मानसिक विकास में पाँच साल छोटा था। मानसिक विकास की छुटाई ने उसे सचेत होने का अवसर भी नहीं दिया और निर्मला उसे बालक बनाकर उसके साथ खेलकर अपनी इच्छाओं को एक लक्ष्य

पर केन्द्रित रखने में समर्थ हुई। उसके साथ खेल की बातें सुनकर थोड़ी देर के लिए अपनी चिंताओं को भूल जाती; और चाहती कि एक बार फिर वही दिन आ जाते, जब गुड़ियाँ खेलती और उनके ब्याह रचाया करती थी।'

तोताराम को पत्नी और पुत्र का परिचय फूटी आँखों न सुहाया। निर्मला से खीके; बाकी गुस्सा उतारना चाहा बड़े लड़के मंसाराम पर, उसकी परीक्षा लेकर। लेकिन वह पढ़ने-लिखने में तेज़ था इस-लिए उनके सभी प्रश्नों का उत्तर देता गया। परीक्षा में स्वयं फेल हो तोताराम ने उसे शाम को खेलने के लिए डाटा। जब उसने खेलने न जाने का भी वचन दिया तो कहा, तुम्हारे बारे में और बहुत सी शिकायतें सुनी है। तुम स्कूल में ही रहा करो। निर्मला ने जो उसे घर रखने के लिये वकालत की, तो वकील साहब हताश होकर चारपाई पर ही गिर पड़े। जी में आया, अभी लड़के को घर से बाहर निकाल दें परन्तु कुछ सोचकर रह गये। मंसाराम दिन-दिन चिन्ता में मग्न, पिता के हृदय से अपने आवारापन का कलंक दूर करने के लिए घुलता जाता था। निर्मला को भी पति के सन्देह का आभास मिल गया। इसलिए उसने भी मंसाराम से मिलना-जुलना छोड़ दिया। पर यह असाध्य तपस्या थी। 'मन्साराम से हँसने-बोलने में उसकी विलासिनी-कल्पना उत्तेजित भी होती थी, और तृप्त भी।... प्रत्येक प्राणी को अपने हमजोलियों के साथ हँसने-बोलने की जो एक नैसर्गिक तृष्णा होती है, उसी की तृप्ति का यह अज्ञात साधन था। अब यह अतृप्त तृष्णा निर्मला के हृदय में दीपक की भाँति जलने लगी।' और दोनों ओर इस अतृप्ति का घातक प्रभाव पड़ा। तोताराम ने मंसाराम से कहा, निर्मला ने ही उनसे उसकी

शिकायत की थी। निर्मला के बदले व्यवहार से मंसाराम को विमाता के द्वेष पर विश्वास भी हो गया। निर्मला मंसाराम को दिन-दिन घुलते देखती परन्तु पति के सन्देह के कारण वह उसे सांत्वना न दे सकती।

मन्साराम बोर्डिंग भेज दिया गया परन्तु वहाँ भी उसका स्वास्थ्य न सुधरा। एक दिन वह खाट से लग गया। पिता के दावघात का जब उसे पता चला तब उसे और भी वेदना हुई। पिता की ईर्ष्या का सबसे विकृत पहलू तब सामने आता है जब इस रुग्णावस्था में भी तोताराम उसे घर नहीं लाना चाहते, उसे अस्पताल में ही रखते हैं। एक अज्ञात प्रेरणा जैसे पुत्र की हत्या करने के लिए उन्हें बाध्य करती है और अन्त में उन्माद में मंसाराम की मृत्यु हो जाती है। आगे चलकर निर्मला अपनी सखी से स्वीकार करती है कि मंसाराम को आँख के सामने रखने के लिए ही उसने उससे अंग्रेज़ी पढ़ने का स्वाँग रचा था। निर्मला के मन में पाप न था परन्तु यदि मंसाराम के 'मन में पाप होता, तो मैं उसके लिए सब कुछ कर सकती थी।'''यह बात सुनने में बुरी मालूम होती है; और है भी बुरी; लेकिन मनुष्य की प्रकृति को तो कोई बदल नहीं सकता।' प्रकृति के साथ यह अत्याचार निर्मला की जान लेकर ही रहता है। पुरुष की मानसिक वासना की तृप्ति के लिए समाज अनुमति देता है; शरीर में अन्य रोगों की भाँति दिमाग में वासना का रोग भी पलता रहता है। यह रोग उसके लिए ही नहीं, आसपासवालों के लिए भी घातक हो जाता है। वह अपने आपको नष्ट कर परिवार के अन्य व्यक्तियों के नाश का कारण बनता है। इस तरह भीतर से समाज जर्जर, और खोखला हो जाता है, परन्तु बाहर से उसकी मर्यादा बनी रहती है।

हमारी मध्यवर्ग की समाज-व्यवस्था और उसके आचार-विचार पतन की इस सीमा को पहुँच गये हैं।

परिवार की एक दूसरी समस्या विधवा की है। या तो वह जीवन भर कुटुम्बियों के तानें सुनती अपने आप को घुला दे या छिपे रूप से व्यभिचार करे और अन्त में वेश्या हो जाय या आत्महत्या कर ले। प्रेमचन्द ने विधवाओं के लिए दो मार्ग बताये, वे विवाह कर लें, या किसी आश्रम आदि में जाकर समाज की सेवा करें। यदि विधवा परिवार में रहती है, तो उसके लिए आर्थिक स्वतंत्रता की आवश्यकता है। वह बैठे-बैठे खाती है, इसीलिए सबको वह भार मालूम होती है और लोग उसे तंग करते हैं। 'सुभागी' (मानसरोवर, पहला भाग) विधवा हो जाती है; वह अपने पिता के यहाँ जाकर रहती है परन्तु वहाँ भी भाई-भौजाई से नहीं बनती। उसके पिता को लड़के से अलग होना पड़ता है और सुभागी खेती-बारी में पिता की सहायता करती है। अपनी मेहनत से उसने पिता का ऋण चुकाया और उसका परिश्रम देखकर अनेक व्यक्ति विवाह के संदेश भेजने लगे। लोग सोचते, वह अभी इतना कमाती है; ब्याह होने पर घर का भला ही करेगी नुक्सान न करेगी। अन्त में उसने विवाह भी कर लिया। 'बालक' (मानसरोवर, दूसरा भाग) कहानी में प्रेमचन्द सामाजिक उदारता में और आगे बढ़ते हैं। एक विधवा थी गोमती। पति के मरने के बाद वह विधवाश्रम में रख दी गई थी। वहाँ के कर्मचारियों ने उसका तीन बार विवाह कर दिया था पर तीनों बार वह उन्हें छोड़कर भाग गई थी। अंत में विधवाश्रम ने भी उसे निकाल दया और वह एक कोठरी लेकर रहने लगी। ठलुओं को मनोरंजन का साधन मिला। इस विधवा से विवाह करने के लिए तैयार हुए गंगू

ब्राह्मण। गगू के मालिक ने बहुतेरा समझाया पर उनकी समझ में न आया। अन्त में गगू के साथ उसका विवाह हो गया। कुछ दिन के बाद वह गगू को भी छोड़कर भागी। अस्पताल में ब्याह के छः महीने बाद उसके बच्चा हुआ। गगू को पता चला तो बच्चे सहित उसे ले आये और तब गगू के मालिक जो गगू का मज़ाक बनाते थे शान्त हुए, 'मैं ऊपर से सज्जन हूँ; पर दिल से कमीना हूँ।' इस तरह प्रेमचन्द ने कुलटा को भी ग्रहण करने में आपत्ति नहीं दिखाई; समाज की मर्यादा गोमती के ठलुओं का मनोरंजन बने रहने में भी, परन्तु प्रेमचन्द ऐसी मर्यादा के कायल न थे।

'नैराश्यलीला' (मानसरोवर, तीसरा भाग) में चारों ओर से सताई जाकर विधवा समाज के नैतिक आदर्शों के प्रति विद्रोह कर बैठती है। कैलासकुमारी धनी पिता की युवती विधवा थी। उसकी वेदना पिता से देखी न जाती। उन्होंने उसके मनबहलाव के लिये जतन करना शुरू किया। सिनेमा, जल-विहार, गाना-बजाना, ताश, ग्रामोफोन आदि उसके मनोविनोद के सभी साधन जुटाये गये। कैलासकुमारी का मनोरंजन हुआ और ऐसा हुआ कि उसे और किसी बात की चिंता ही न रही। रोज ही कुछ प्रोग्राम होना आवश्यक था। फल यह हुआ कि मोहल्ले में चवाव होने लगा और औरतें उसकी मा को तानें देने लगीं। पिता ने अब सैर-सपाटे बंद कर उसे धर्म की ओर लगाया। मंदिरों मे जाना, पूजा-पाठ करना, तीन-तीन बार स्नान करना, सबसे अलग सफाई से रहना, यही उसका जीवन हो गया। परंतु इस ओर भी उसका झुकाव सीमा तक पहुँच गया और वह सन्यास लेने के लिए हठ करने लगी। मुहल्लेवालों के कानों में भनक पड़ी और मर्यादा के ठेकेदार सजग हो फिर उसके पिता के पास

आये। उन्होंने कलजुगी साधु महात्माओं की निंदा की और कैलास-कुमारी को अध्यापिका बना देने की सलाह दी। निदान वह अध्यापिका भी बनी। कैलासकुमारी अब कन्याओं को पढ़ाने और उनकी सेवा में इतना दत्तचित्त रहने लगी कि घरवालों को यहाँ भी बदनामी का भय होने लगा। माँ बाप कैलासकुमारी की इस अत्यधिक लगन का कारण जानते थे। 'बिना माँझी के नाव पार लगाना कठिन है। जिधर हवा पाती है, उधर ही बह जाती है।' पर शायद माँझी खोजने के लिए वे तैयार न थे। कैलासकुमारी का स्कूल जाना भी बंद कर दिया गया। समाज की मर्यादा ने उसके हृदय में इस प्रकार बराबर चोटें कर उसमें भी प्रतिक्रिया पैदा कर दी। उसने अपने व्यक्तित्व, अपने मनुष्यत्व को प्रतिष्ठित करते हुए स्पष्ट कह दिया। 'संसार मुझे जो चाहे समझे, मैं अपने को अभागिनी नहीं समझती।...मैं इसे अपना घोर अपमान समझती हूँ कि पग-पग पर मुझ पर शंका की जाय, नित्य कोई चरवाहों की भाँति मेरे पीछे लाठी लिए घूमता रहे कि किसी के खेत में न जा पड़ूँ।' विद्रोह और खुले रूप में व्यक्त हुआ: उसने जूड़ा बाँधा और उसमें गुलाब का फूल लगा लिया। माँ के जीभ दाबने और महरियों के छाती पर हाथ धरने की पर्वाह उसने न की। रंगीन रेशमी साड़ी पहनी और एकादशी का व्रत रखना छोड़ दिया। शायद इससे समाज की मर्यादा भंग हुई हो परन्तु इसके लिए समाज ही उत्तरदायी था, कैलासकुमारी नहीं। 'नरक का मार्ग' में एक स्त्री अपनी आत्मकथा कहती है। वृद्ध पुरुष से उसका विवाह होता है; विधवा हो जाती है, परन्तु चूड़ियाँ नहीं तोड़ती, माँग में सेंदुर पहले भी न डालती थी, अब भी नहीं डालती। कैलासकुमारी के चारित्र्यिक विकास की सभी

सीढ़ियों को पार करती अन्त में वह वेश्या हो जाती है। वह जानती है, 'मेरे लिए अब इस जीवन में कोई आशा नहीं। इस अधम दशा को भी मैं उस दशा से न बदलूँगी, जिससे निकलकर आई हूँ।' विधवा का जीवन इतना कटु और निर्दय बनाया गया है कि उससे वेश्या-जीवन भी श्रेयस्कर है। प्रेमचंद का सामाजिक विद्रोह यहाँ चरम सीमा को पहुँच गया है। अन्यत्र, वेश्या-जीवन और विवाह से अलग वयस्क विधवाओं के लिए सेवाधर्म का भी निर्देश किया है जैसे 'प्रतिज्ञा' में।

बाल-वृद्ध-विवाह, गृहकलह आदि अनेक कारणों से बहुत-सी स्त्रियाँ वेश्या-जीवन बिताने के लिए बाध्य होती हैं। प्रेमचंद ने बिना हिचकिचाहट के इनके साथ विवाह करने की अनुमति दी है; वे विवाह न करना चाहें तो उनके लिए आश्रमों की भी व्यवस्था होनी चाहिए। 'सेवासदन' इसी समस्या को लेकर लिखा गया है। सुमन का एक दोहाजू के साथ विवाह होता है। बड़ी तपस्या करने पर भी वह उसे संतुष्ट नहीं कर पाता और युवती होने के कारण सुमन शीघ्र ही सफल गृहस्थिन भी नहीं बन पाती। सामने रंडी के यहाँ वह समाज के बड़े-बड़े संरक्षकों को पधारते देखती है। मोहल्ले के पं० पद्मसिंह वकील के यहाँ एक दिन उस भोली रंडी का मुजरा होता है। सुमन भी वहाँ जाती है। उसका पति गजाधर ईर्ष्यावश उसे घर से निकाल देता है। सुमन पं० पद्मसिंह के यहाँ आश्रय पाना चाहती है पर समाज के भय से वह उसे नहीं रखते और अन्त में भोली रण्डी ही उसे शरण देती है। सुमन नाचना-गाना शुरू कर देती है और उसके यहाँ विलास के सभी साधन एकत्र हो जाते हैं। प्रेम करने के लिए प० पद्मसिंह का भतीजा सदनसिंह भी मिल जाता है। समाज-सुधारक

बिट्ठलदास उसे समझाने जाते हैं, उसके सामने गृहस्थ नारी की मान-मर्यादा और अब के अधःपतन का चित्र खींचते हैं। सुमन ने समाज में व्याप्त एक इससे भी भयंकर चित्र खींचकर बिट्ठलदास को निरुत्तर कर दिया उसने कहा—'मेरा तो यह अनुभव है कि जितना आदर मेरा अब हो रहा है उसका शतांश भी तब नहीं होता था। एक बार मैं सेठ चिम्मनलाल के ठाकुरद्वारे में झूला देखने गई थी, सारी रात बाहर खड़ी भीगती रही। किसी ने भीतर न जाने दिया, लेकिन कल उसी ठाकुरद्वारे में मेरा गाना हुआ तो ऐसा जान पड़ता था मानों मेरे चरणों से वह मन्दिर पवित्र हो गया।' यही नहीं, सवेरे से शाम तक जो हज़ारों आदमियों की भीड़ उसके घर के आगे से जाती थी, उसकी आँखें भी सुमन की कृपा दृष्टि पाने को उत्सुक सी जान पड़ती थीं, तब कैसे कहा जाता कि उसका सम्मान कम है ! समाज ऊपर से वेश्या को जितना पतित बताता है, भीतर से उससे उतना ही प्रेम करता है; घर की स्त्री को जितना पुस्तकों में आदर देता है, वस्तु-जगत् में उससे उतना ही घृणा करता है। बिठ्ठलदास के पास सुमन के तर्कों का कोई उत्तर न था; वह ज्योति समाज में नहीं, कुलटा सुमन के हृदय में ही थी जिसने उसे वेश्या-जीवन छोड़कर 'सेवासदन' में दिन बिताने के लिए बाध्य किया।

विधवा, वेश्या आदि के प्रति इतना उदार होते हुए भी प्रेमचंद ने वासना को समाज की शृंखला तोड़ने की आज्ञा नहीं दी। जिस समाज में घरेलू और बाज़ारू व्यभिचार एक बड़े परिमाण में फैले हुए हैं, उसमें उन्होंने विवाह और एक पति-पत्नी धर्म को ही श्रेयस्कर समझा है। विवाह का बंधन स्त्री-पुरुष दोनों के लिए पवित्र है और उन्हें उसका पालन करना चाहिये। प्रेमचंद के इस आदर्श में

भारतीयता की पूरी छाप है ; स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध इस जन्म का ही नहीं, शायद पूर्व जन्म का भी है, इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि विवाह दो शरीरों को नहीं, दो आत्माओं को बाँधता है। आत्मा से उनका तात्पर्य हृदय की भावनाओं से है ; अर्थात् विवाह केवल शारीरिक वासना की तृप्ति का साधन नहीं, उससे प्रेम, त्याग आदि भावनाओं का विकास भी होता है। पुराने आदर्शवाद का प्रेमचंद पर इतना प्रभाव था कि विवाह-बंधन तोड़ने की अनुमति वह न दे सकते थे। उनकी रचनाओं में दांपत्य-जीवन के घोर असंतोष के चित्रण मिलते हैं परन्तु उन्हें सुलझाने के लिए उन्होंने त्याग, धैर्य और समाई का ही उपदेश दिया है। इसका कारण यह है कि उनका सुधारवाद परिवार को अपना केंद्र बनाये है ; बिना परिवार के समाज की शायद वह कल्पना भी नहीं कर सकते थे। परिवार के अस्तित्व के लिए विवाह आवश्यक है ; दंपति में असंतोष और भीतरी व्यभिचार के होने पर भी जब तक दंपति हैं तब तक परिवार भी है। परंतु व्यक्तिगत सद्व्यवहार समाज-व्यापी रोग की दवा नहीं हो सकता। उस रोग से मुक्ति तभी मिल सकती है जब हम परिवार को छोड़कर समाज को ही अपने जीवन का केंद्र बनायें।

किन्हीं परिस्थितियों में परिवार की एकता बनाये रखने के लिए प्रेमचंद ने भोंड़े उपायों का भी सहारा लिया है। 'स्वर्ग की देवी' (मान० तीसरा भाग) में पति अपनी स्त्री से उदास रहता है। एक दिन पत्नी ने देखा कि बैठक में रंडी आई है। पति की उदासी का कारण जान उसने भी सिंगार करना शुरू कर दिया और फिर सब सुखमय हो गया। 'स्त्री और पुरुष' (उपरोक्त) में स्त्री कुरूप है, इसलिए पति उसे प्यार नहीं करता। सौभाग्य से पुरुष को फालिज मार जाती है

थे कि होरी को घर में विधवा न रखनी चाहिये थी पर हृदय से चाहते थे कि ऐसे अवसर रोज़ आवें तो मुट्ठी गरम हुआ करे। अपने घर क्या होता है, इसकी उन्हें खबर न थी, या देखकर भी जानना न चाहते थे। ठाकुर झिंगुरीसिंह के तीन बीबियाँ थीं। 'पति की आड़ में सब कुछ जायज़ है। मुसीबत तो उसको है, जिसे कोई आड़ नहीं।... घूँघट की आड़ में क्या होता है, इसकी उन्हे क्या खबर!' ये प्रेमचन्द के ही शब्द हैं। समाज की मर्यादा घूँघट तक है; भीतर चाहे जो कुछ हो, उसे उघड़ना न चाहिये। होरी का कसूर यह था कि वह इस घूँघट को बनाये न रख सका। घूँघट के उघड़ते ही समाज की मर्यादा में बट्टा लग गया। इसीलिए होरी 'अपने सिर पर लादकर अनाज ढो रहा था, मानो अपने हाथों अपनी क़ब्र खोद रहा हो। ज़मींदार, साहूकार, सरकार, किसका इतना रोब था? कल बाल-बच्चे क्या खायँगे, इसकी चिन्ता प्राणों को सोखे लेती थी; पर बिरादरी का भय पिशाच की भाँति सिर पर सवार आँकुश दिये जा रहा था। बिरादरी से पृथक जीव की वह कोई कल्पना ही न कर सकता था। शादी-ब्याह, मूँड़न-छेदन, जन्म-मरण सब कुछ बिरादरी के हाथ में हैं। बिरादरी उसके जीवन में वृक्ष की भाँति जड़ जमाये हुए थी और उसकी नसें उसके रोम-रोम में बिंधी हुई थीं। बिरादरी से निकलकर उसका जीवन विश्रृंखल हो जायगा—तार-तार हो जायगा।'

मध्यवर्ग और देहात के किसान-वर्ग में यह भावना व्याप्त है कि समाज के बाहर व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं। बात जितनी सच है, उतनी ही आज व्यंग्यपूर्ण बन गई है। समाज का कार्य-क्रम केवल नकारात्मक है, उसका अस्तित्व हमें सामाजिक दण्ड मिलने पर ही बोध होता है; सरकार की पुलिस की तरह वह कानून तोड़ने

पर हमें तुरन्त गिरफ्तार कर लेती है : परन्तु रचनात्मक कार्य-क्रम के नाम पर उसके पास कुछ नहीं है। हमारे बच्चे अशिक्षित और भूखे रहे परंतु इसके लिये समाज का कोई उत्तरदायित्व नहीं है। होरी के मर जाने पर गोदान लेने के लिए दातादीन हाथ फैलाये हुए अंत में भी दिखाई देते हैं। ऐसे ही कटु अनुभव का चित्र प्रेमचंद ने 'मृतक भोज' (प्रेरणा) में आँका है। सेठ रामनाथ अपनी पत्नी, बच्चे और उनके सिर पर ऋण का बोझ छोड़कर मर गये। उनके मरने पर बिरादरी ने उनकी प्रशंसा के पुल बाँध दिये, क्योंकि उनके नाम के अनुरूप बिरादरी का भोज भी होना था। विधवा के गहने उतरा लिये गये और बहुत विरोध करने पर भी उसे बाध्य किया गया कि अपना घर भी गिरवीं रख दे। कुबेरदास को अपना कर्ज भी वसूल करना था। बड़ी शान से भोज हुआ ; लोगों ने खूब सराह-सराहकर मिठाइयाँ खाईं परंतु रामनाथ के बच्चों के लिए भी कुछ बचा है या नहीं, कोई न पूछता था। गरीबी में विधवा दिन काटने लगी परंतु शीघ्र ही उसे अपने घर से भी निकलना पड़ा। अंत में अपनी लड़की के साथ उसने एक खटकिन के यहाँ आश्रय पाया। बिरादरी को यह भी सह्य न हुआ कि वह शांति से रह सके। सेठ झाबरमल लड़की का पाणिग्रहण करने के लिए तैयार हो गये। उसके अस्वीकार करने पर उसे नाबालिग करार दे पंचों के अधिकार प्रदर्शन की बात चलाई। बिरादरी से बचने के लिए अंत में उस लड़की को गंगा माता की ही गोद में शरण मिल सकी।

समाज में इस भीतरी शोषण की जड़ जमाये रखने के लिए धर्म और अंधविश्वास उसे सींचा करते हैं। शोषण का वृक्ष वैसे ही लहलहा उठता है और उसकी काँटेदार डालियाँ निरीह प्राणियों को

अपनी काँटेदार डालियों तक खींचकर उनका रक्त पी जाती हैं। धर्म और ईश्वर के ढकोसले इस उत्पीड़न को बनाये रखते हैं; व्यक्ति के हृदय में पैठी हुई भीरुता और सहज विश्वास से महाजन-पंडे पुजारी पूरा लाभ उठाते हैं। समाज की व्यवस्था को जैसे ईश्वर ने ही रच दिया हो और उस व्यवस्था को तोड़ना ईश्वर के विरोध से कम अर्थ न रखता हो। हमारा धर्म समाजनीति से अलग नहीं है; उसका रूप अत्यंत व्यावहारिक है। यही कारण है कि समाज के भीतरी पतन में वह इतना सहायक होता है। पति की मृत्यु के बाद बिरादरी को भोजन न देने से पति की आत्मा संतुष्ट न होगी, और पति के संतुष्ट न होने से ईश्वर का भी कोप होगा। इसीलिए कुबेरदास की दृष्टि विधवा के मकान पर जाती है और झाबरमल की उसकी अनाथ बच्ची पर। प्रेमचंद ने आस्तिकता और नास्तिकता को सामाजिक रूप दे दिया है; सामाजिक परिस्थितियाँ ही मनुष्य को आस्तिक या नास्तिक बना देती हैं। संपन्न के लिए आस्तिक होना सहज है; संसार का मारा हुआ अपना गुस्सा ईश्वर पर उतारता है। प्रेमाश्रम में दुखरन भगत अपनी सालिगराम की बटिया फेंककर यही कोप प्रकट करते हैं। धर्मभीरु, नित्य गीता का पाठ करनेवाले महाजन समरकांत भी जब हंटरों की मार से सूजी हुई सलोनी चमारिन को देखते हैं तो ईश्वर के अस्तित्व में संदेह कर बैठते हैं। 'निर्बल क्रोध और चाहे कुछ न कर सके, भगवान की खबर जरूर लेता है। इस जगत् का नियन्ता कोई नहीं है। कोई दयामय भगवान सृष्टि करता होता, तो यह अत्याचार न होता! अच्छे सर्व-शक्तिमान हो! क्यों नरपिशाचों के हृदय में नहीं पैठ जाते, या वहाँ तुम्हारी पहुँच नहीं है! कहते हैं, यह सब भगवान् की लीला है! अगर तुम्हें भी ऐसी

ही लीला में आनद मिलता है, तो तुम पशुओं से भी गये बीते हो!'

अन्य रोमांटिक विद्रोहियों की भाँति प्रेमचद ने अनीश्वरवाद को अपने विद्रोह का मुख्य अंग नहीं बना दिया। वह जानते थे, यह निर्बल का क्रोध है; साथ ही आस्तिकवाद को भी उन्होंने सबल की शक्ति माना है, क्योंकि वह शोषण में सहायक होता है। निर्बल के लिए आस्तिकवाद भय है, उसे और भी शोषित होने के लिए प्रेरित करता है। अपनी रचनाओं में प्रेमचन्द ने धर्म के इस स्वार्थी पहलू को बार-बार स्पष्ट किया है; बिना स्वयं किसी मत का पक्ष लिये उन्होंने धर्म की सामाजिक उपयोगिता को ही सामने रखा है। 'ब्रह्म का स्वाँग' (प्रेम पचीसी) कहानी में वकील पति की स्त्री बहुत पूजा पकाई रखती है। पति समाज-सुधारक हैं; सहयोग में भाग लेते हैं। उनके तर्कों से पत्नी भी समाज-सुधारक बन जाती है परन्तु उसका समाज सुधार उस सीमा को पहुँच जाता है जब पति की वकीलवाली मर्यादा को धक्का लगता है! वह यह नहीं देख सकते कि मेहमानों के लिए रखी मिठाई पत्तलें चाटनेवाले कगलों को दे दी जाय। पति ब्रह्म की एकता को स्वीकार करते हुए भी कहते हैं कि संसार में विषमता ईश्वर ने ही बना दी है। 'हम सभी जानते हैं कि ईश्वर न्यायशील हैं, किन्तु न्याय के पीछे अपनी परिस्थिति को कौन भूलता है?' मध्यवर्ग के इन प्रतिष्ठितों का कहने को धर्म और और करने का धर्म और है। 'रामलीला' (प्रेमतीर्थ) में रामचन्द्र की आरती में सैकड़ों रुपये वसूल होते हैं। रण्डी का नाच होता है, आधा उसकी जेब में, आधा प्रबन्धक की जेब में। जो लड़का बेचारा रामचन्द्र बना था उसे अपनी किताबें और फीस के लिए एक पैसा भी नहीं मिलता। उसका एक मित्र अपने पिता से उसे देने को कुछ

पैसे माँगता है ; पिता रएडी को वहीं अशर्फी दे आते हैं परन्तु उसकी पढ़ाई के लिए उनके पास एक पैसा भी नहीं है। 'डामुल का कैदी' में सेठजी साहबों के लिए डालियाँ तैयार करते हैं ; पुजारी कहता है कि ठाकुरजी के भोग को देर हो रही है। सेठजी ठाकुर और साहब का भेद जानते थे। कहते हैं—'तुम्हारे ठाकुरजी ही सब कुछ न दे देंगे। पेट भरने पर ही पूजा सूझती है।' सेठों की भक्ति का अर्थ है, उनके ठाकुरद्वारे की सी सजावट शहर में दूसरी जगह न हो, उनकी ऐसी कहीं झाँकी न बनती हो और उसी भक्ति के प्रताप से नगर में उनका सम्मान होता है। जैसा कि रंगभूमि में जॉन सेवक कहते हैं, 'धर्म तो व्यापार का शृंगार है। वह धनाधीशों को ही शोभा देता है। खुदा आपको समाई दे, अवकाश मिले, घर में फालतू रुपये हों, तो नमाज़ पढ़िये, हज कीजिये, मसजिद बनवाइये, कुएँ खुदवाइये। तब मजहब है। खाली पेट खुदा का नाम लेना पाप है। धर्म का अर्थ मनुष्यता केवल कुछ पीड़ितों में रह गया है जो समाज की मर्यादा रखनेवाले धर्म की उपेक्षा कर मनुष्यता की रक्षा करते हैं। सूरे भैरों की स्त्री को अपने यहाँ आश्रय देता है ; होरी की स्त्री विधवा झुनिया को अपने घर में ठौर देती है। मनुष्यता की दृष्टि से यही लोग धार्मिक हैं।

प्रेमचन्द ने सामाजिक आचार-विचार का जो चित्र दिया है वह विस्तृत, सर्वांगपूर्ण और यथार्थ है। परिवार की दिन-प्रतिदिन की नई समस्याओं को उन्होंने हमारे सामने रखा है ; विधवा, विमाता, सास-बहू, नई शिक्षा में दीक्षित नारी, ये सभी पुराने ढाँचे में चारों ओर से आक्रमण कर रहे हैं। भीतर ही भीतर व्यभिचार और अनाचार ने समाज को खोखला कर दिया है। मर्यादा नहीं केवल मर्यादा का स्वप्न लोगों की आँखों में रह गया है। अपने आपको मिटाकर भी वे उसकी

रक्षा करने में लगे हैं। केवल दंड देने के लिए, सुधार और परिवर्तन का क्रम भंग करने के लिए, समाज अपनी सत्ता को जनाता है, अपनी नकारात्मक शक्ति का प्रदर्शन करता है। व्यक्ति की उन्नति से उसे कोई सम्बन्ध नहीं है ; वह इतना निर्जीव है कि व्यक्ति की रक्षा भी नहीं कर सकता। केवल सड़ी हुए लाश की तरह जो उसके संसर्ग में आवे उसे भी सड़ाने-गलाने में सहायता दे सकता है। ऊपर से धर्म और ईश्वर का मायाजाल बुना हुआ है। जात बिरादरी के मोटे महाजन अपना पेट भरने के लिए उसका उपयोग करते हैं। बड़े-बड़े मन्दिरों से बड़े-बड़े सेठों की ही स्वार्थ सिद्धि होती है। धर्म और मर्यादा के आगे लोग मनुष्यता की साधारण बातों को भूल जाते हैं। केवल बहकाने के लिये, लोगों को ठगने के लिए समाज के विधाताओं ने धर्म के आदर्श और व्यावहारिक दो रूप कर रखे हैं। प्रेमचन्द ने कहीं समाज के इस जर्जर ढाँचे में दो लातें लगाई हैं, कहीं मिट्टी लेकर गिरती दीवाल को बनाने की कोशिश की है, लेकिन वह ढाँचा भीतर से कितना खुदा है, मिट्टी के कनकन एक दूसरे से कितने अलग हो गये हैं यह वह भली प्रकार जानते थे। वह जानते थे कि वर्षा आतप और शीत से यह घर हमारी रक्षा नहीं कर पाता। प्रेमचन्द का युग बीत रहा है, न जाने कब यह इमारत अपनी नई और पुरानी शहतीरों के साथ लोगों की खोपड़ी पर भरभरा पड़े। कल्याण इसी में है कि उसे छोड़कर हम दूसरी इमारत बनावें। हम उसकी मिट्टी को गारा बनाकर नई ईंटें जोड़ने के काम में ला सकते हैं ; उसका और कोई दूसरा उपयोग नहीं है।

प्रेमचन्द की कला

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रेमचन्द का ध्येय समाज-सुधार था; कला की बातें गौण होकर आती हैं, उनका लक्ष्य पहले उस ध्येय की पुष्टि करना ही है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कला के बारे में उन्होंने सोचा न था, विशेषकर उस कला के बारे में जिसका कहानी और उपन्यास के निर्माण से सम्बन्ध है। युवावस्था में प्रेमचंद ने बहुत से उपन्यास पढ़े थे—उनकी संख्या अनगिनती न रही हो परन्तु उनमें भले बुरे, कलात्मक और कलाहीन का हिसाब लगाया गया था। तिलस्मी होशरुबा, चंद्रकांता संतति, बंकिमचंद्र और रेनॉल्ड के अनुवाद और कुछ न मिला तो नवलकिशोर प्रेस से निकले पुराणों के उर्दू अनुवाद सभी कुछ उन्होंने पढ़ा था। 'मेरी पहिली रचना' और 'जीवनसार' (कफ़न) में उन्होंने अपने इस उपन्यास-प्रेम और

अपनी पढ़ाई का हाल लिखा है। अपनी रचनाओं में प्रेमचंद का ध्येय समाज-सुधार था; एक समाज-सुधारक चंद्रकांता संतति और रेनाल्ड के अनुवाद पढ़े, कुछ अचरज सा लगता है। परन्तु इससे सिद्ध होता है कि प्रेमचंद को कथा-मात्र से प्रेम था; जो पढ़ते थे, उसमें उनके लिए पहला आकर्षण कहानी थी। इसलिए सुधार का लक्ष्य होते हुए भी उनकी खुद की रचनाओं में कहानी-तत्व गौण होकर नहीं आया। पाठक उन्हे कथा के आनन्द के लिए पढ़ सकते हैं; सुधार का लक्ष्य छिपा हुआ है। भले-बुरे, सभी श्रेणियों के उपन्यास पढ़ने से प्रेमचंद की चिन्तनशक्ति उर्वर हुई; प्रत्येक महान् प्रतिभा को अपने लिए एक बना बनाया ढाँचा न चाहिये, जिसका वह अनुसरण करे,—उसे केवल अपने विकास के लिए केवल संकेत, थोड़ा सहारा चाहिये जिससे वह अपनी मौलिकता को खोज सके। प्रेमचंद की विचित्र और बहु प्रकार की पठन सामग्री ने उनकी रचना शक्ति के लिए खाद का सा काम किया और वह सेवासदन जैसा आधुनिक उपन्यास लिख सके। केवल निर्माण की दृष्टि से स्वयं प्रेमचद 'सेवासदन' को फिर न पा सके; अपने अन्य बड़े उपन्यासों में उन्होंने निर्माण का ढंग ही बदल दिया था।

सेवासदन में पाठक का ध्यान सुमन पर केंद्रित रहता है; विषम सामाजिक परिस्थितियों में उसका विवाह होता है, पति से विछोह और बाद में वेश्या-जीवन आरंभ होता है। अंत में वह सेवासदन मे स्वयं आश्रय खोजती दूसरों के आश्रय का प्रबंध करती है। आरंभ से अंत तक सुमन पर से पाठक की दृष्टि नहीं हटने पाती और वही कहानी के ऊहापोह का कारण बनती है। परंतु सेवासदन की आधुनिकता इस निर्माण में ही नहीं है, उसकी महत्ता घटनाओं के तारतम्य,

विशेषकर परिस्थिति, घटना और चरित्र के सामंजस्य में है। सेवा-सदन में घटनाओं का संबन्ध चरित्र तक, कथा के कुछ पात्रों तक ही नहीं रहता ; वह फैलकर परिस्थिति, समाज की विशिष्ट अवस्थाओं तक पहुँच जाता है। प्रेमचंद के पहले के उपन्यासकार इस सामाजिकता को न पहचान पाये थे ; उनके उपन्यास कुछ पात्रों की कथाएँ हैं—प्रेमचंद के उपन्यास समाज का प्रतिबिंब है, पात्र केवल सामाजिक दशाओं के चित्रण में सहायता करते हैं। और अंत तक पहुँचते-पहुँचते 'सेवासदन' की कथा का केंद्र सुमन न होकर वेश्या-जीवन हो जाता है। सुमन की समस्या एक वृहत् समस्या में घुल मिल जाती है। फिर भी सुमन का चित्रण अत्यंत सजीव है ; उसमें वैयक्तिक विशेषताएँ हैं और वह केवल एक सामाजिक परिस्थिति या किसी वर्ग का प्रतीक मात्र नहीं है। वर्ग और व्यक्ति दोनों को उनका उचित स्थान दिया गया है। आरंभ में दरोगा कृष्णचंद की ऐसी परिस्थिति दिखायी गयी है कि उन्हें कन्या के विवाह के लिए घूस लेना और फलतः जेल जाना पड़ता है। कोई दूसरा होता तो सब कुछ निबाह ले जाता परंतु कृष्णचद्र की सिधाई स्थिति के सँभालने में बाधक होती है। वहीं से सुमन की विपत्ति-कथा का आरंभ होता है। बाद में शहर में, उसका पति, पड़ोसी भोली रंडी, पद्मसिंह आदि उसके घर छोड़ने और रंडी बनने में सहायक होते हैं। सुमन की व्यक्तिगत चेष्टाएँ अनुकूल परिस्थितियों से प्रेरित होती हैं और उनका एक निश्चित दशा में अंत होता है। इसके बाद वेश्याओं को लेकर नगर में जो आन्दोलन चलता है, उससे समाज का व्यभिचार, उसकी पतित अवस्था हमारे सामने आ जाती है। प्रेमचन्द ने नगर के प्रमुख व्यक्तियों के सुन्दर रेखाचित्र

दिये हैं और वह व्यंग्यपूर्ण चित्रण देखते ही बनता है। सुमन के जीवन की दूर तक प्रतिक्रिया होती है और उसकी बहन को अविवाहित ही विधवा बनना पड़ता है। सेवासदन में नगर के, बाजार के, बागों और मन्दिरों के, सेठ साहूकार, वकील, सुधारकों के, और नदी के किनारे के मल्लाहों के चित्रण से, हम सुमन को उसके चारों ओर के वातावरण में, सामाजिक परिस्थितियों के बीच देख सकते हैं। प्रेमचन्द के पहले हम कथाएँ पढ़ते थे; यहाँ नित्यप्रति की देखी-सुनी बातें पाते हैं, कल्पना से यथार्थ में आते हैं।

सेवासदन में कथा-सूत्र एक ही है; रंगभूमि, प्रेमाश्रम आदि की भाँति कई कथाएँ एक साथ नहीं चलतीं। उन बड़े उपन्यासों की श्रेणी से अलग प्रेमचन्द का दूसरा सुगठित उपन्यास 'निर्मला' है। अपने घर में अविवाहित दशा से लेकर मृत्युपर्यंत निर्मला ही कथा का केन्द्र है। फिर भी घटनाओं में अन्तर नहीं पड़ता, अविलम्ब एक दूसरे का अनुसरण करतीं वे हमारे सामने आती हैं। निर्मला की दोहाजू से शादी होती है और फिर बाबू तोताराम की गृहस्थी की विचित्र समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। मंसाराम की मृत्यु के बाद निर्मला का जीवन लक्ष्यहीन हो जाता है और रोग और दरिद्रता में उसकी मृत्यु हो जाती है। यहाँ भी निर्मला के सहारे, जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रेमचन्द वयस्क दोहाजू के विवाह से उत्पन्न घरेलू समस्याओं का ताना-बाना बुनते हैं। निर्मला के जीवन की घटनाओं में मग्न, कथा का आनन्द लेता हुआ पाठक, समाज की इन गुत्थियों को भी सुलझाता चलता है। इसी श्रेणी में 'प्रतिज्ञा' उपन्यास भी आता है। अमृतराय और पूर्णा कथा का केन्द्र हैं; अमृत केवल विधवा से शादी करने की प्रतिज्ञा करते हैं, और पूर्णा विधवा हो जाती

है परन्तु अनेक कारणों से फिर भी उनकी शादी नहीं होती। यहाँ भी कथा के साथ विधवा-जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। 'ग़बन' इस कोटि के उपन्यासों में सबसे लम्बा है। यहाँ मूल समस्या गहनों को लेकर खड़ी हुई है। जालपा गहने चाहती है; उसके ससुर और पति मिथ्या सामाजिक मर्यादा के फेर में एक कमज़ोरी के बाद दूसरी कमज़ोरी की तरफ़ बढ़ते जाते हैं और जब जालपा सजग हो जाती है तब भी उसका पति रमानाथ नहीं सँभल पाता क्योंकि वह पतन की राह में बहुत आगे बढ़ चुका है। केवल जालपा का हठ और उसका त्याग, साथ ही ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ जो रमानाथ के सोते आत्मसम्मान को जगा देती हैं, उसे फिर मनुष्य की तरह जीवन बिताने योग्य बनाती हैं। आज का समाज किस तरह हमारी कमज़ोरियाँ उभारता है और हमें शीघ्र से शीघ्र पतित होने में सहायता देता है, इसका सूक्ष्म चित्रण यहाँ मिलता है। साथ ही रमा और जालपा की कहानी से भी हमारा ध्यान नहीं हटने पाता। उसी कथा को उभारने के लिए रतन और उसके पति वकील की कथा भी आ जाती है, परंतु वह बहुत छोटे परिमाण में है।

अन्य उपन्यासों में दो या अधिक कथाएँ साथ-साथ चलती हैं और मूल कथा, किसे कहें, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है। प्रेमाश्रम में एक ओर ज्ञानशंकर, प्रेमशंकर, गायत्री, कमलानंद आदि ज़मींदार वर्ग के पात्र हैं, उनकी समस्याएँ हैं, उनकी कथा है, दूसरी ओर गौसवाँ के किसान, मनोहर बलराज कादिर आदि हैं, उनकी समस्याएँ हैं, उनकी भी कहानी है। परंतु ये कहानियाँ जितनी अलग ऊपर से जान पड़ती हैं, उतनी वास्तव में नहीं हैं। दोनों का एक दूसरे से निकट का सम्बंध है और वे एक दूसरे की आश्रित हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि इस कोटि के मुख्य उपन्यास, प्रेमाश्रम, रंगभूमि और गोदान गाँवों से सम्बंधित हैं और इसलिए प्रेमचंद को वहाँ के दो वर्गों का चित्रण करना आवश्यक था। सेवासदन, ग़बन और निर्मला की समस्याएँ एक ही वर्ग या परिवार की हैं अथवा वहाँ वर्ग संघर्ष इतना स्पष्ट नहीं हो पाया था। गावों में जमींदार एक तरफ, किसान एक तरफ—दोनों के खेमें जुदा-जुदा हैं। इसलिए किसानों का शोषण चित्रित करने के लिए उन्हें जमींदारों का चित्रण करना ही था। और प्रेमचंद दोनों वर्गों को निकट से जानते थे, इसलिए बड़े परिमाण पर उन्होंने उनके चित्र बनाये हैं; गायत्री और ज्ञानशंकर की प्रेमलीलाओं से किसानों का निकट का संबन्ध है। जब गायत्री का कृष्ण-प्रेम उमड़ता है, वह सनातन धर्म की सभाएँ करती हैं, धर्मशालाएँ बनवाती हैं, तो इसका बोझ किसानों के कंधों पर ही पड़ता है। ज्ञानशंकर की व्यक्तिगत धूर्तता और उनका पाखंड उन्हें एक आदर्श हृदयहीन जमींदार के रूप में हमारे सामने रखता है। और अंत में मायाशंकर और किसान दोनों वर्गों का सहकारिता की खेती में, एक वर्गहीन समाज में अंत होता है। प्रेमाश्रम में खूब विभिन्नता है; उसका ध्येय किसानों को सरकारी और जमींदारी शासन के नीचे पिसता हुआ दिखाना है। इसलिए एक गठित कथा को लेकर चलना घातक होता। अनेक आधुनिक उपन्यासकार कथा को छोड़कर केवल सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण करते हैं। अपनी विशृंखलता से ही वे पाठक पर एक प्रभाव छोड़ना चाहते हैं। प्रेमचंद में वैसी विशृंखलता नहीं है। रूसी क्रांति के पूर्व के उपन्यासकार टाल्स्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि की भाँति कथासूत्रों को लेते हुए वे सामाजिक

परिस्थितियों का चित्र देते हैं। निर्माणकला की दृष्टि से प्रेमाश्रम उतना ही महत्व-पूर्ण है जितना सेवासदन। सेवासदन का क्षेत्र संकुचित है, प्रेमाश्रम का बृहत्। पूरा उपन्यास पढ़ने पर गावों का समाज, उसकी समस्याएँ, शोषण-यंत्र की विचित्र गति-विधि, सभी से हमारा परिचय हो जाता है। प्रत्येक महान् कृति की भाँति हम उसके लिए कह सकते हैं, यह जीवन का ही चित्र है।

रंगभूमि की कथा के दो केन्द्र हैं, एक सूरदास दूसरे विनयसिंह। सूरदास के पास थोड़ी सी जमीन है; जॉन सेवक उस पर अपना तमाखू का कारखाना बनाना चाहते हैं। यही सारे झगड़े की जड़ है। सूरदास के चारों ओर भैरों, जगधर, नायकराम आदि देहात के अन्य पात्र हैं; भैरों की स्त्री सुभागी को लेकर एक टण्टा खड़ा हो जाता है। कारखाना बनने से कुछ गाँववालों को अपना लाभ भी दिखाई देता है; वे डटकर, एक होकर सेवक साहब का विरोध नहीं कर पाते। सूरदास और उसके गुट को अपना केन्द्र मान प्रेमचन्द ने उस गाँव की दशा चित्रित है जो पुरानी मान-मर्यादा के विचारों के होते हुए भी नये उद्योग-धंधों के आक्रमण से अपने अस्तित्व को नहीं बचा सकता। सेवक और सूरदास के बीच ताहिरअली, जो सेवक के क्लर्क हैं, अपनी छोटी सी कथा लिये आते हैं। भले सीधे आदमी, परिस्थिति की मार से, जानबूझ कर अधर्म का काम करते हैं, और उन्हे सज़ा भी मिलती है, अधर्म की नहीं, अपनी सिधाई की। सूरदास के विरोधी दल में सेवक के साथ कुँवर भरतसिंह, राजा महेंद्र प्रतापसिंह, आदि मिले हुए हैं। भरतसिंह ही सबसे पहले कारखाने के हिस्से खरीदने को तैयार होते हैं। महेन्द्रसिंह जमीन दिलाने को कहते हैं। हाकिम क्लार्क भी सेवक के लालच दिखाने पर उनकी सहायता

करते हैं। ज़मीन के मालिक जमींदार, जागीरदार आदि भूमिपति से आधुनिक पूँजीपति बन सकते हैं। इन भूमिपतियों, नये व्यापारियों और इनके सहायकों के साथ एक गुट आदर्शवादियों का है जिसमें कुछ द्वंद से अलग हो जाना चाहते हैं, कुछ उसे सुलझाना चाहते हैं, और परिस्थिति की थपेड़ों से कुछ प्रतिक्रियावादी होकर जन-पक्ष के दमन में भी सहायक हो जाते हैं। विनयसिंह को अपनी माता से पुराने ढंग की आत्मत्याग और देश-सेवा की शिक्षा मिली है। वह एक आदर्शवाद लिये जीवन में प्रवेश करते हैं परन्तु परिस्थिति उन्हीं के जीवन में एक द्वंद उत्पन्न कर देती है और वह कभी इस ओर, कभी उस ओर अर्द्ध-निष्क्रिय से झोंके खाया करते हैं। प्रभुसेवक इस द्वन्द से दूर हो अपने आप को कविता में भूल जाना चाहते हैं। उनके पिता बार-बार उन्हें व्यापार की भँवर में डालना चाहते हैं, परन्तु कमल-पत्र की भाँति उन पर पानी चढ़ता ही नहीं है। सोफी विनय से प्रेम करती है; उसका कार्य-क्रम विनय से ही प्रभावित होकर बनता है। राजपूताने की रियासतों में जब विनय से अलग वह षड़यन्त्रकारियों से मिल जाती है, तो विनय के कार्यों की प्रतिक्रिया के ही कारण। कुँअर भरतसिंह की पत्नी रानी जाह्नवी के देश-प्रेम का स्रोत पुत्र है: मेरा पुत्र महान हो, यह उनकी कामना है, और उसके महान् बनने के लिए देशसेवा एक साधन है। इन आदर्शवादियों में कोई भी समस्या को ठीक तरह नहीं सुलझा पाता। सेवक और सूर का संघर्ष चला करता है और अंत में सूर के साथ सारा गाँव, जैसा कि हम देख चुके हैं, तहस-नहस हो जाता है। इस तरह कथा के अनेक सूत्र एकत्र कर प्रेमचन्द एक वृहत् सामाजिक परिवर्तन का चित्र दे सके हैं, मूल कथा विनय और सोफी की, या

सूर और सुभागी की नहीं रहती—उपन्यास का कथानक एक सामाजिक परिवर्तन हो जाता है और प्रेमचंद की कला इसे चित्रित करने में पूरी तरह सफल हुई है।

कर्मभूमि का ढाँचा अन्य उपन्यासों से भिन्न है। यहाँ पर दो कथाएँ हैं, एक चमारों के गाँव की, एक नगर की परंतु दोनों ही अमरकांत के व्यक्तित्व से जुड़ी हुई हैं, साथ ही दोनों का ही सम्बंध अछूतों से है। एक तरफ अमरकांत के गाँव में लगान बन्दी का आंदोलन चलता है, दमन होता है, दूसरी तरफ नगर में मंदिर-प्रवेश के लिए सत्याग्रह होता है, गोली चलती है, अछूतों के लिए नये मकान बनें, इसके लिये म्यूनिसिपैलिटी के विरुद्ध आंदोलन चलता है। अछूत-समस्या का यहाँ भी बृहत् चित्र खींचा गया है; उसके आर्थिक, सामाजिक पहलू हमारे सामने आते हैं। अमरकांत की कहानी अछूत आंदोलन की कहानी बन जाती है। कथा के दो क्षेत्र होने से प्रभाव कम नहीं होता वरन् वे एक दूसरे की सहायता करते हैं और एक निश्चित कलात्मक प्रभाव के अंग बन जाते हैं। निर्माण की दृष्टि से कायाकल्प प्रेमचंद का सबसे निर्बल उपन्यास है। चक्रधर की कहानी और रानी देवप्रिया की पारलौकिक गाथा काफी दूर-दूर चलती हैं। यद्यपि अंत में वे एक हो जाती हैं परंतु उन्हें एक करने में जितना विलंब लगता है, उससे पाठक धीरज खो बैठता है। कथाओं के असंबद्ध होने पर भी लेखक का ध्येय राजा-ज़मींदारों का चित्रण करना स्पष्ट रहता है। ये पात्र इतने मौलिक और मजेदार हैं कि उपन्यास की रोचकता नष्ट नहीं होती। गोदान का ढाँचा बहुत कुछ प्रेमाश्रम जैसा है—एक गुट होरी के चारों ओर किसानों का है, दूसरा गुट रायसाहब के चारों ओर उच्च वर्ग के लोगों का है। इनमें मेहता और

मालती भी हैं जो गाँववालों से सहानुभूति रखते है परंतु लड़ाई में कूदकर डटकर उनका पक्ष लड़ नहीं सकते। इन्हीं के साथ पत्रकार, मिलों के मालिक, शहर के अमीर आवारा आदि भी हैं जो होरी की गरीबी से अलग उच्चवर्ग की ऊपरी चमक-दमक का चित्र पेश करते हैं। लेकिन यह वर्ग मूल चित्र के पृष्ठभाग में ही रहता है; चित्र में का अधिक भाग होरी और उसके साथियों को ही दिया गया है। इसका कारण यह है कि होरी की मुख्य लड़ाई उतनी इस उच्च वर्ग के साथ नहीं है जितनी गाँव के ही महाजनों से। गोदान का कथानक किसान-महाजन संघर्ष को लेकर रचा गया है, उच्च वर्ग केवल चित्र की पूर्णता के लिए है। कथाक्रम में प्रेमाश्रम की ही भाँति तीव्रता है—वहाँ एक गाँव का गाँव स्वाहा हो जाता है, यहाँ होरी पूरे महाजन वर्ग और उसके सहायक जमींदार वर्ग के कारिंदों से युद्ध करता हुआ परास्त होता है। किसान-महाजन संघर्ष का होरी ही एक महान् प्रतीक बन जाता है और उसका अकेला चरित्र कथा की एकसूत्रता में सहायता करता है। उसके अनेक सहायक पात्र हैं जो शोषण चक्र मे पिसते दिखाई देते हैं। शोषकों में भी काफी विचित्रता है; इसलिए कथा की एकता के साथ उसकी विचित्रता और रोचकता में कमी नहीं होने पाती।

चरित्र-चित्रण में प्रेमचद पात्र की वैयक्तिक विशेषताओं मे पैठते हुए भी परिस्थितियों के अनुसार उसका उत्थान-पतन दिखाते चलते हैं। सारा व्यापार अत्यंत स्वाभाविक और मानव-सुलभ हो उठता है, और पाठक पर सत्यता की छाप डालता है। काया-कल्प में चक्रधर का और रंगभूमि में विनयसिंह का पतन, इसके दो उदाहरण हैं। कर्म-भूमि में अमरकांत का भी कुछ ऐसा हाल होता है। आत्मानंद महंत

का गुरुद्वारा घेर लेने के पक्ष में हैं, अमरकांत पहले समझौते की बात करना चाहते हैं। एक बार वह अफसरों से मिलने जाते हैं। उनके व्यवहार से वह मुग्ध हो जाते हैं ; चमारों से आत्मीयता और बंधुत्व-वाला भाव कुछ क्षणों को लोप हो जाता है। 'अफसरों की सोहबत ने कुछ अफसरी शान पैदा कर दी थी।' लोगों से कहा—'हाकिम परगना तुम्हारी हालत जाँच करने आ रहे हैं। खबरदार! कोई उनके सामने झूठा बयान न दे।......तहक़ीक़ात में देर जरूर लगेगी ; लेकिन राज्य-व्यवस्था में देर लगती ही है।...रुपये में आठ आने छूट का ज़िम्मा मैं लेता हूँ। सब्र का फल मीठा होता है, इतना समझ लो।' धीरे-धीरे आत्मानंद भी अमरकांत की सलाह मान गये। वह सभा में लोगों को बाकी लगान दे देने की सलाह दे रहे थे। उसी समय अमरकांत को घर का पत्र मिला, जिसमें उसकी स्त्री सुखदा की गिरफ्तारी और जेल-यात्रा का वृत्तांत था। तुरंत ही अमर की कल्पना अपनी वीरांगना नारी के अतिरञ्जित चित्र खींचने लगी। 'ऊपर असीम आकाश में केसरिया साड़ी पहने कौन उड़ी जा रही है! सुखदा! सामने की श्याम पर्वत-माला में गोधूलिका हार गले में डाले कौन खड़ी है!' इसका परिणाम यह हुआ कि उसने सभा में बड़ा ही उग्र भाषण दिया और अपना पक्ष छोड़कर लगान बंदी का ज़ोरों से समर्थन किया। परिस्थिति के चक्र में उत्थान-पतन दोनों होते हैं। ग़बन में ज़ोहरा रमानाथ को फँसाना चाहती है, परंतु उसकी स्त्री जालपा को राजबंदियों के निःसहाय कुटुम्बों में बर्तन माँजते देख उसका हृदय पसीज उठता है और वह जालपा की सबसे बड़ी हितू बन जाती है। गोदान में विलास-प्रिय मालती के चरित्र का विकास भी ऐसा ही हुआ है।

मनुष्य के भावों विचारों में किस तरह छोटी-छोटी गुत्थियाँ पड़ती और सुलझती हैं, इसका चित्रण करने की प्रेमचंद में अद्भुत क्षमता है। गोदान का १० वाँ अध्याय एक उदाहरण है। होरी रात से अपने खेत के पास की मड़ैया में लेटा है; उसकी स्त्री धनिया खबर लाती है कि उसके लड़के गोबर की छोड़ी हुई स्त्री झुनिया उसके यहाँ आश्रय चाहती है, पाँच महीने का उसके गर्भ है। धनिया उसे घर में रखने के पक्ष में नहीं है, होरी उसे हाथ पकड़ दूर कर देने की बात कहता है। दोनों घर की ओर चले तो पति-पत्नी में विवाद होने लगा। धनिया को चिंता हुई, रात को कहाँ जायगी; कहीं डर-डरा न जाय। घर तक पहुँचते धनिया होरी को कसम खाने लगी कि उस पर हाथ न उठाये। और घर के भीतर जब होरी पहुँचा तो सामाजिक मर्यादा-ज्ञान के ऊपर उसकी ग्रामीण सहृदयता जाग उठी: अपने पैरों पर पड़ी झुनिया से वह यही कह सका—'डर मत बेटी, डर मत। तेरा घर है, तेरा द्वार है, तेरे हम हैं। आराम से रह।' मानव-चरित्र में ऐसे घात-प्रतिघात उनके उपन्यासों में भरे पड़े हैं। इसीलिए उन्हें पढ़ते ही उनकी यथार्थता पर विश्वास हो जाता है—प्रेमचंद ने मनुष्य की कमज़ोरियों और शहज़ोरियों का निकट से अध्ययन किया था, यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट मालूम होता है।

कहानी में चरित्र-विकास और कथानक के नियम दूसरे ही हैं। सूक्ष्म मनोविज्ञान की बातें यहाँ खूब उभर कर आती हैं और कहानी को सुंदर बना देती हैं। दूसरे प्रेमचंद की शब्द-चित्रण की प्रतिभा के के लिए यहाँ विशेष क्षेत्र रहता है। रंगभूमि में ताहिरअली, नायकराम, राजा महेंद्रप्रताप आदि के जैसे शब्द-चित्र उन्होंने दिये, या गोदान में महाजनों के, प्रेमाश्रम में चपरासी-कारिंदों के—ऐसे शब्द-

चित्र कहानी की जान हो जाते हैं। थोड़े में एक पात्र को सजीव आँखों के सामने खड़ा कर देने की क्षमता कहानी को सफल बनाने में विशेष सहायता देती है। प्रेमचंद का व्यंग्य भी यहाँ खूब निखर कर आता है। जैसे शंखनाद में चौधरी के बड़े लड़के वितान 'एक सुशिक्षित मनुष्य थे। डाकिए के रजिस्टर पर दस्तखत कर लेते थे। बड़े अनुभवी, बड़े मर्मज्ञ, बड़े नीतिकुशल। मिर्जई की जगह कमीज पहनते, कभी-कभी सिगरेट भी पीते, जिससे उनका गौरव बढ़ता था।' प्रेमचंद दो चार बातों को शब्दचित्र में ऐसा सजा देते हैं कि सारा चित्र जी उठता है; रेखाचित्र को सफल बनाने के लिए जैसे उसके सभी अंगों का पूरा पूरा बनाना आवश्यक नहीं होता, केवल कुछ रेखाओं से ही वह सजीव हो उठता है। इसके साथ प्रेमचंद का छिपा हुआ हास्य, चारित्रिक विशेषताओं पर व्यंग्य करता हुआ चलता रहता है। उपन्यास और कहानियों में वह समान रूप से देखने को मिलता है। 'दंड' (मानसरोवर, तीसरा भाग) कहानी में कचहरी उठ जाने के बाद 'अहलकार और चपरासी जेबें खनखनाते घर जा रहे थे। मेहतर कूड़े टटोल रहा था कि शायद कहीं पैसे-वैसे मिल जायँ। कचहरी के बरामदों में सांडों ने वकीलों की जगह ले ली थी। पेड़ों के नीचे मुहर्रिरों की जगह कुत्ते बैठे नज़र आते थे।' 'शतरंज के खिलाड़ी' उनके व्यंग्य और हास्य का सुन्दर नमूना है। 'कफन' में करुणा और हास्य अद्भुत रूप से मिले हुए हैं। कहीं कहीं यह हास्य, यथार्थ के संघर्ष में आकर अत्यंत कटु हो गया है। 'नशा' (मानव पहला भाग) में एक ठाकुर पूछने आता है, स्वराज्य में जमींदारों की जमीन छीन ली जायगी कि नहीं। कहानी का लेखक जो अपने मित्र के यहाँ जमींदार का स्वाँग बनाये हुए है, कहता है कि जो जमीन न देंगे, उनकी छीन ली जायगी, और

अपने इलाके में स्वराज्य होते ही वह जमीन किसानों के नाम हिबा कर देगा। ठाकुर वहीं चलना चाहता है परंतु लेखक बताता है कि अभी उसे अख्तियार नहीं है, होने पर बुला लेगा। मोटर ड्राइवरी सिखाकर ठाकुर के ड्राइवर बनने की बात भी पक्की हो गई। नतीजा यह हुआ 'उस दिन ठाकुर ने खूब भंग पी और अपनी स्त्री को खूब पीटा और गाँव के महाजन से लड़ने को तैयार हो गया।' मोटेराम वाली कहानियों में हास्य बहुत उथला है, परंतु यह उथलापन तब आता है जब प्रेमचंद हास्य की ही कहानी लिखना चाहते या हास्यपूर्ण परिस्थिति बनाना चाहते हैं। उनका हास्य सबसे सफल तब होता है जब चरित्र-चित्रण या वर्णन के साथ वह मिल जाता है या मनुष्य की छोटी-छोटी कमजोरियों की ओर इंगित करता है।

चरित्र-चित्रण के लिए शब्द-चित्र ही एक साधन नहीं है; ज्यादा काम वार्तालाप से लिया जाता है। पात्रों की बातचीत से उनके चरित्र की विशेषता दिखाने में प्रेमचंद ने कमाल किया है। बातचीत बहुत ही स्वाभाविक होती है और पात्रों के अनुसार भाषा में भी परिवर्तन हुआ करता है। धाराप्रवाह बोलनेवाली बातूनी स्त्रियों का गोदान की धनिया एक उदाहरण है; अपनी बातों से वह बड़ों-बड़ों के छक्के छुड़ा देती है और उसकी भाषा ऐसी रोचक होती है कि उसकी वक्तृता सुनते जी नहीं अघाता। मनुष्यों की बातचीत की स्वाभाविकता का तो कहना ही क्या; पशुओं के मूक संभाषण को भी प्रेमचंद ने शब्दों में बाँध दिया है। पशु जिस प्रकार कुछ सोचते हैं, सोचने के बाद मिलकर कोई काम करते हैं,—कम से कम उनके कार्यों से भासित ऐसा होता है कि वे सोच रहे हैं, उस दशा का चित्रण 'दो बैलों की कथा' (मान० दू० भा०) में मिलता है। 'दूध का दाम' में टामी और

मंगल की बातचीत ने यथार्थ और कल्पना के संमिश्रण से एक विचित्र भाव-जगत् तैयार कर दिया है। मंगल जमींदार के यहाँ से निकाल दिया गया है ; वहाँ लौट कर नहीं जाना चाहता ; टामी से सलाह करता है। 'खाओगे क्या टामी, मैं तो भूखा ही लेट रहूँगा।' टामी कूँ कूँ कर उत्तर देता है—'इस तरह का अपमान तो जिंदगी भर सहना है। यों हिम्मत हारोगे, तो कैसे काम चलेगा। मुझे देखो न, अभी किसी ने डंडा मारा, चिल्ला उठा ; फिर ज़रा देर बाद दुम हिलाता हुआ उसके पास जा पहुँचा। हम-तुम दोनों इसीलिए बने हैं भाई।'

अधिकांश कहानियों में प्रेमचन्द एक ही प्रधान घटना रखते हैं ; कथानक की गति उसी की ओर होती है, और पाठक का ध्यान एक ही धारा में बहता है। उनकी सबसे सुन्दर कहानियों में कथा का समय भी थोड़ा ही होता है। कफन में सारी घटनाएँ बिना टूटे हुए कुछ घंटों में हो जाती हैं। ऐसे ही उनकी अन्य सुन्दर कहानी 'पूस की रात (मान० पहला भाग) में केवल एक रात की घटनाओं का वर्णन है। 'शतरंज के खिलाड़ी' निर्माण-कला का सुन्दर उदाहरण है। 'सद्गति' में भी घटनाओं का क्रम टूटने नहीं पाता ; दुखी चमार जब से घर से साइत बिचरवाने चलता है, तब से उसकी मृत्युपर्यंत उस पर से पाठक की दृष्टि एक क्षण को भी नहीं उठने पाती। जहाँ इस समय की एकता का विचार नहीं होता, वहाँ भी मूल समस्या एक ही हो, इस बात का ध्यान रखा जाता है। सारी बात प्रभाव की होती है; प्रेमचन्द की कहानी का प्रभाव सधा हुआ और संगठित होता है। कहने कुछ लगे और कह गये कुछ, ऐसा देखने को नहीं मिलता। चरित्र-चित्रण और वार्ता दोनों का लक्ष्य ही इस प्रभाव को उभारता रहता है। अन्त में कहानी पढ़ने पर पाठक को एक तृप्ति मिलती है ; समस्या सुलझ जाती है और

पाठक आगे के लिए चिन्तित नहीं रहता। कथा के आनन्द को प्रेमचन्द अधूरा नहीं रखते।

इसके साथ ही कहानियों और उपन्यासों में प्रेमचन्द अपनी कथा के लिए उचित 'सेटिंग' तैयार कर लेते हैं। उनकी वर्णन शक्ति चित्र के पृष्ठभाग को सजाने में सहायता देती है। 'पूस की रात' में ठढ का बड़ा प्रभावपूर्ण वर्णन है। थोड़े से ही शब्दों में प्रकृति और मनुष्य के संघर्ष को वह सजग कर देते हैं। 'आकाश पर तारे भी ठिठुरते मालूम होते थे' या 'रात में शीत को हवा से धधकाना शुरू किया' ऐसे वाक्य गाँव में पूस की ठंढ की कल्पना करा देते हैं। कहीं-कहीं उनका प्रकृति-वर्णन कवित्वपूर्ण होने के साथ हल्की भावुकता लिये होता है। परन्तु बार-बार उनकी भाषा अपनी वर्णन-क्षमता से हमें अचम्भे में डाल देती है। 'अन्तस्तल की गहराइयों से एक लहर-सी उठती हुई जान पड़ी, जिसमें उसका अपना अतीत जीवन टूटी हुई नौकाओं की भाँति उतराता हुआ दिखाई दिया।' (जेल—समरयात्रा) मनोभावों को दर्शाने के लिए उनकी चित्रमय व्यंजना देखते ही बनती है। जब बुढ़िया नोहरी दुखी हुई तो 'उसके मुख की झुर्रियाँ मानो रेंगने लगीं' (समरयात्रा-समर०) शब्द-चित्र करुणा की व्यंजना साथ लिये है। भाषा को सबल बनाने के लिए प्रेमचन्द ने साधारण से साधारण बात को भी अपनाने में असाहित्यिकता का मान नहीं किया। 'मिस मालती मेहता के साथ चलने को तैयार हो गई। खन्ना मन में ऐंठकर रह गये। जिस विचार से आये थे, उसमें जैसे पंचर हो गया।' (गोदान) भोला एक जगह "अपील भरी आँखों" से होरी को देखता है और दूसरी जगह गोबर के शब्द 'तपते हुए बालू की तरह (धनिया के) हृदय पर पड़े और चने की भाँति सारे अरमान झुलस गये।' प्रेमचन्द

की सफलता का रहस्य बहुत कुछ उनकी भाषा है। पहले वह उर्दू में लिखते थे, इसलिए कुछ लोग कह देते हैं, उनके गद्य पर उर्दू की छाप है। प्रेमचन्द जैसे यथार्थ के विद्यार्थी के लिए उर्दू में बहुत दिन तक लिखना संभव न था। प्रेमचन्द के ग्रामीण पात्रों की भाषा देखने से यह स्पष्ट हो जायगा, क्या उनके सूरदास, कादिर, होरी, मनोहर, बलराज, गोबर, धनिया, दातादीन, झिंगुरीसिंह, आदि के उर्दू बोलने की कल्पना की जा सकती है? यद्यपि गाँव के किसान सचमुच तो अपनी दिहाती बोली में बात करते हैं परन्तु वह बोली हिन्दी के प्रति निकट होने से प्रेमचन्द के लिखे वार्तालापों में घुल-मिल गई है। किसानों को बातचीत कराने में प्रेमचन्द ने असाधारण रूप से देहात के मुहावरों और शब्दों को अपनाया है। देहाती बोली और हिन्दी के एकीकरण में उन्हें इतनी सफलता मिली है कि गाँव का रहनेवाला पाठक भी प्रेमचन्द के किसानों की बात सुनकर उसे अस्वाभाविक नहीं कह सकता। प्रेमचन्द के मुसलमान पात्र जो शहर में रहते हैं, उर्दू बोलते हैं। परन्तु जो गाँव के हैं, वे हिंदी ही बोलते हैं। इससे साम्प्रदायिक भेद-भाव से परे भाषा की एकता का पता चलता है। गाँव के किसानों के लिए कौन भाषा सबसे सुलभ होगी, प्रेमचन्द के किसानों की बातचीत से देखा जा सकता है।

परन्तु प्रेमचन्द किसानों की बातचीत के लिए ही देहाती से शब्द नहीं लेते; उनकी भाषा की गठन ही उस देहाती बोली की भूमि पर हुई है। जो सुन्दर मुहावरे, कहावतें, उपमाएँ और हास्य के पुट उनके गद्य में हमें मिलते हैं उन्हें प्रेमचन्द ने अपने गाँव की बोली से सीखा था। अपनी उपमायें उन्होंने बहुधा ग्रामीण जीवन से ली हैं। 'गाय मनमारे उदास बैठी थी, जैसे कोई वधू ससुराल आई हो'

(गोदान)। 'रग्घू खाने बैठा, तो कौर विष के घूँट-सा लगता था। ...दो चार ग्रास खाकर उठ आया, जैसे किसी प्रियजन के श्राद्ध का भोजन हो' (अलगोझा—) मान० पहला भाग 'तिलक-मंडप से अभी तक आग की ज्वाला निकल रही थी। राजा साहब और उनके साथ के कुछ गिने-गिनाये आदमी उसके सामने चुपचाप खड़े थे, मानो श्मशान में खड़े किसी मृतक की दाह-क्रिया कर रहे हों' (कायाकल्प) इत्यादि। प्रेमचन्द की भाषा के अलंकार उसके प्रवाह में सहज ही सज जाते हैं। सारी बात अनुभव और सचाई की है। प्रेमचन्द जनता को जानते थे, उसकी भाषा को जानते थे; वहीं से उन्हें शक्ति मिली है। चमत्कार उत्पन्न करने के सैकड़ों उपाय हैं परन्तु प्रेमचन्द को वे सोचने न पड़े थे। उनकी भाषा जितनी सरल और चमत्कार-पूर्ण है, उतना ही वह जनता की भाषा में छिपे हुए वैचित्र्य और साहित्यिकता की गवाही देती है।

अस्तु, समाज-सुधारक प्रेमचद से कलाकार प्रेमचन्द का स्थान कम महत्वपूर्ण नहीं है। उनका लक्ष्य जिस सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन-क्रम को चित्रित करना रहा है, उसमें वह सफल हुए हैं। उनके उपन्यासों की लम्बाई से अनुमान करना कि इनमें भरती की गई है, भ्रमात्मक है। अपने बड़े उपन्यासों में उन्होंने समाज के बृहत् चित्र दिये हैं, उसके लिए वैसा परिमाण आवश्यक था। लम्बे उपन्यास लिखने में प्रेमचन्द अकेले नहीं हैं। विदेश के अन्य लेखकों ने भी जिनकी कथा-वस्तु इस प्रकार की रही है, ऐसे उपन्यास लिखे हैं। 'निर्मला' 'सेवासदन' आदि लिखकर उन्होंने दिखा दिया है कि वह एक सुगठित कथा लिख सकते हैं, परन्तु इनका कलात्मक प्रभाव बड़े उपन्यासों से भिन्न है। समाज के बड़े-बड़े परिवर्तन क्रम, जिनमें हमारी सभ्यता का ध्वंस और निर्माण होता है, जिनमें समाज को बड़ी-बड़ी

वर्गशक्तियाँ अपनी-अपनी हार-जीत के लिए प्राणपन से चेष्टा करती हैं, जिनमें व्यक्ति से ऊपर उठ हम समाज के समूहों को ही पात्र-रूप में कार्य करते देखते हैं, वह संघर्ष की विशद कल्पना, सामाजिक-विकास का सूक्ष्म विश्लेषण और चित्रकार की बड़े परिमाण में निर्माणकला छोटे उपन्यासों में सुलभ नहीं है। कहानियों में शब्द-चित्रों के साथ वह कथा तत्व का पूरा ध्यान रखते हैं और हास्य और व्यंग्य उनके चित्रण को सजीव बनाते हैं। वार्तालाप में स्वाभाविकता ऐसी होती है कि जिस श्रेणी का व्यक्ति होता है, वैसी ही उसकी भाषा भी होती है। प्रेमचन्द के पात्रों की भाषा एक अध्ययन करने की वस्तु है; देहाती, हिंदी, उर्दू, अंग्रेज़ी और इनके मिश्रण से बनी अनेक प्रकार की भाषा-शैलियाँ एक युग के सांस्कृतिक आदान-प्रदान का इतिहास है। 'कफ़न' के चमारों से लेकर 'शतरंज के खिलाड़ी' के बीते युग के नवाबों तक सैकड़ों श्रेणियों के पात्रों का उनकी स्वाभाविक भाषा मे बातचीत कराना समाज के अद्भुत ज्ञान का साक्षी है। ऐसी क्षमता संसार के महत्तम साहित्यिकों में ही पाई जाती है। प्रेमचन्द का गद्य देहाती भाषा की दृढ़ भूमि पर निर्मित हुआ है; कहावतें, मुहावरें, उपमाएँ उन्होंने वहीं से सीखी हैं; भाषा की सरलता के लिए भी उन्हें वहीं से प्रेरणा मिली है। प्रेमचन्द की कला का रहस्य एक शब्द में उनका देहातीपन है; ग्रामीण होने के कारण वह समाज के हृदय में पैठकर उसके सभी तारों से सम्बन्ध स्थापित कर सके हैं। अपनी भाषा के लिए, अपने चित्रण के लिए, वह अवश्यकतानुसार अपने देहात के अनुभव पर निर्भर हो सकते थे और उसने उन्हें कभी धोखा नहीं दिया। देश के गरीबों के प्रति उनकी सहानुभूति, उनसे उनके प्रगाढ़ परिचय और उनके चित्रण की सचाई ने ही उन्हें सफल कलाकार बनाया है।

परिशिष्ट

प्रेमचंद के विचार

प्रत्येक कलाकार की भाँति प्रेमचन्द के विचार भी उनकी साहित्यिक कृतियों में व्यक्त हुए हैं। उनकी कहानियों और उपन्यास पढ़कर यह जानने को बाकी नहीं रह जाता कि उनके राजनीतिक या सामाजिक विचार क्या थे। परन्तु उपन्यास और कहानी लेखक के साथ प्रेमचन्द सम्पादक भी थे और अनेक पुस्तकों की, उन्होंने अपने पत्र हंस में आलोचना भी की थी। इसलिए हिन्दी की गतिविधि आदि के बारे में उनके क्या विचार थे, हम जान पाते हैं। वैसे तो कलाकार के ही नाते हम उनके विचारों को जितना ही अधिक जान सकें, उतना अच्छा होगा। कला के सम्बन्ध में हम उनके विचार पहले अध्याय में देख चुके हैं। यहाँ उनके भाषा और आधुनिक साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाले विचार रक्खे जाते हैं।

१२

प्रेमचन्द ने भाषा के सम्बन्ध में काफी विचार किया था और उसके सम्बन्ध में लिखा भी काफी है। जब उन्होंने उर्दू छोड़ कर हिन्दी में लिखना शुरू किया था तब भी उनके सामने भाषा का प्रश्न महत्वपूर्ण होकर आता था। इसीलिए 'सेवासदन' में भी हम उन्हें इस विषय पर सोचते विचारते देखते हैं। डा० श्यामाचरण मोटर से उतरकर जब अंग्रेजी में अपने देर होने की क्षमा चाहते हैं तब कुँअर साहब उन्हें याद दिलाते हैं, 'डाक्टर साहब, आप भूलते हैं, यह काले आदमियों का समाज है।' डाक्टर साहब अंग्रेजी को देश की जिंग्वा फ्रांका मानते हैं, परन्तु कुँवर साहब इसका कारण देश के कुछ अंग्रेजी भक्तों को बताते हैं। अंग्रेजी से कुँअर साहब को 'ऐसी ही घृणा होती है जैसी किसी अंगरेज के उतारे कपड़े पहनने से।' उर्दू और हिन्दी का प्रश्न प्रेमचन्द के सामने ताज़ा था। उसके बारे में कुँअर साहब कहते हैं—'फारस और काबुल के मूर्ख सिपाहियों और हिन्दू व्यापारियों के समागम से उर्दू जैसी भाषा का प्रादुर्भाव हो गया। अगर हमारे देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के विद्वज्जन अपनी ही भाषा में सम्भाषण करते तो अब तक कभी एक सार्वदेशिक भाषा बन गई होती।' दिसम्बर '३१ के हंस में एक पुस्तक की आलोचना करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था—'साहित्य-मंडल ने उर्दू के केन्द्र दिल्ली में हिन्दी-प्रकाशन का भार उठाया है, यह उद्योग प्रशंसनीय है।' प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू का भेद मिटाने के पक्ष में थे क्योंकि वास्तव में भाषाएँ दोनों एक हैं। इसके लिए वह काफी उदारता से काम लेना चाहते थे; भाषा शुद्ध ही हो, इसके वह कायल न थे। परन्तु राष्ट्र-भाषा को कुछ गिने-चुने आदमियों की न होकर देश के समूह की समझ में आनेवाली होना चाहिये।

जैसा उन्होंने हंस में लिखा था, 'राष्ट्र-भाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती। उसे किसानों और मजदूरों की भाषा बनना पड़ेगा।' कौन-सी भाषा किसान और मजदूरों की भाषा बन सकती है, यह उनकी कहानियों और उपन्यासों के ही किसान-मजूरों की भाषा देखकर बताया जा सकता है। अन्य भाषा-भाषियों की सुगमता के लिए वह हिन्दी का कोष बढाना चाहते थे परन्तु वह ऐसे शब्द लेने के पक्ष में न थे जिनसे हिन्दी-हिन्दी न रहे। नवम्बर '३५ के हंस में उन्होंने लिखा था, 'इसका ध्यान रखना पड़ेगा कि अपना कोष बढ़ाने की धुन में वह अपना रूप ही न खो बैठे।...हिन्दी की भी एक मर्यादा है, और उसका चाहे जितना ही विस्तार हो, उसकी इस मर्यादा की रक्षा होनी आवश्यक है।' इन शब्दों में उन्होंने अपने जीवन-पर्यन्त के अनुभव और चिन्तन का सार रख दिया है।

सरल भाषा लिखने के पक्षपाती होते हुए भी प्रेमचन्द साहित्यिक की कठिनाइयों को जानते थे। उन्होंने स्वीकार किया है, दर्शन, विज्ञान आदि में और कथा-साहित्य में भी जहाँ वह विवेचनात्मक हो जाता है, जन-साधारण की भाषा से अलग कठिन शब्द अपनाने पड़ते हैं। भाषा काठिन्य के विरुद्ध कुछ लोगों की तरह आवाज़ न उठाकर प्रेमचन्द ने जनसाधारण में ही अधिकाधिक भाषा और साहित्य के प्रचार पर ज़ोर दिया है। जो लोग उच्चकोटि का गम्भीर साहित्य रचनेवाले की भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयों को न समझकर उस पर तुरन्त ही दुरूहता, अस्वाभाविकता आदि का आक्षेप कर बैठते हैं उन्हें प्रेमचन्द के इन शब्दों को ध्यान में रखना चाहिये —'जब तक जनता में शिक्षा का अच्छा प्रचार नहीं हो जाता, उनकी व्यावहारिक शब्दावली बढ़ नहीं जाती, हम

उनके समझने लायक भाषा में तात्विक विवेचनाएँ नहीं लिख सकते।' शिक्षा का प्रचार होने पर, वही कठिन शब्द 'जिन्हें देखकर आज हम भयभीत हो जाते हैं, जब अभ्यास में आ जायँगे तो उनका हौआपन जाता रहेगा' (हंस, जनवरी '३५) । राष्ट्रभाषा के राजनीतिक महत्व को वह पूरी तरह स्वीकार करते थे और इसके लिए उन्होंने नेताओं पर यह दोष भी लगाया है कि वे इस सम्बन्ध में अधिक सचेष्ट नहीं रहे। 'जब हमारे नेता हिन्दी-साहित्य से बेखबर से हैं, जब हम लोग थोड़ी-सी अंग्रेजी लिखने की सामर्थ्य होते ही हिन्दी को तुच्छ और ग्रामीणों की भाषा समझने लगते हैं, तब यह कैसे आशा की जा सकती है कि हिन्दी में ऊँचे दर्जे के साहित्य का निर्माण हो।' (हंस, जनवरी '३६) । फिर भी उनका विचार था कि देश का साहित्य यदि उन्नति कर सकता है तो वह राष्ट्रभाषा के द्वारा ही, अन्य उपभाषाओं से नहीं ; राष्ट्रभाषा का साहित्य ही अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्दिता में ठहर सकेगा, दूसरा नहीं। 'यह स्वप्न देखना कि भारत की सभी प्रान्तीय भाषाएँ संसार की समुन्नत भाषाओं के बराबर हो सकती हैं, भूल है। एक राष्ट्र एक ही भाषा को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय संघों के सामने खड़ा हो सकता है।' (हंस, नवम्बर '३५) । इससे मालूम होता है, राष्ट्रभाषा के प्रश्न को प्रेमचन्द कितना महत्वपूर्ण समझते थे और उसके साहित्य की उन्नति के लिए उनमें कैसी उत्कट अभिलाषा थी। उसी लगन से साहित्य रचकर उन्होंने राष्ट्रभाषा का मस्तक भी ऊँचा किया है। लिपि के सम्बन्ध में उन्होंने विशेष कुछ विवेचनात्मक नहीं लिखा, परन्तु जैसे भाषा के सम्बंध में उनकी पहली कसौटी बोधगम्यता की है, उसी प्रकार लिपि के लिए उन्होंने पहले-पहल उसका सरल और सुबोध होना आवश्यक समझा है। इसलिए उन्होंने देवनागरी

लिपि का ही समर्थन किया था। 'हिन्दुस्तानी भाषा के लिए हिन्दी लिपि रखना ही सुविधा की बात है।' (हं० नवम्बर '३४)।

प्रेमचंद किस प्रकार के साहित्य की उन्नति चाहते थे, यह तो उनका साहित्य देखकर समझा जा सकता है; फिर भी साहित्य की अन्य धाराओं के प्रति उनका दृष्टिकोण उदार था और कड़े शब्दों में उन्होंने किसी का खंडन नहीं किया, मतलब की चीज़ मिलने पर उसका स्वागत अवश्य किया है। दोषों को उन्होंने छिपाया भी नहीं है, उनकी ओर इङ्गित किया है। यद्यपि हंस में पुस्तकों का परिचय देते हुए वह विशेष विवेचन न कर सकते थे, फिर भी उनकी टिप्पणियाँ उनके सूक्ष्म विवेक का परिचय देती हैं। प्रसादजी के 'कंकाल' की आलोचना करते उन्होंने लिखा था; 'मुझे अब तक आपसे यह शिकायत थी कि आप क्यों प्राचीन वैभव का राग अलापते हैं, ऐसी चीजें क्यों नहीं लिखते, जिनमें वर्तमान समस्याओं और गुत्थियों को सुलझाया गया हो।' प्रेमचंद का यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रसाद की रोमांटिक भावुकता के विपरीत हो, यह स्वाभाविक था, फिर भी उन्होंने इस विरोध को बहुत ही नम्रता के साथ व्यक्त किया है, 'न जाने क्यों मेरी यह धारणा हो गई है, कि हम आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व की बातों और समस्याओं का चित्रण सफलता के साथ नहीं कर सकते।' 'कंकाल' में जो वर्तमान समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की गई है, उसका उल्लेख कर उन्होंने प्रसाद के इस पहले उपन्यास का यह कह कर स्वागत किया है, 'आज हिंदी में बहुत कम ऐसे उपन्यास हैं, जो इसके सामने रक्खे जा सकें।' देश-विदेश के बहुत कम कलाकार ऐसे मिलेंगे जो अपने एक प्रतिद्वन्द्वी का ऐसे मुक्तकण्ठ से, ऐसी आतुरता से स्वागत करते हैं। 'तितली'

पर प्रेमचन्द ने जो कुछ लिखा वह प्रसाद के शेष साहित्य के लिए भी सत्य है। प्रसाद के दोष और गुणों को उन्होंने खूब पहचाना है और सूत्ररूप में जो यहाँ उन्होंने कहा है, उससे अधिक कुछ तथ्यपूर्ण प्रसाद-सम्बन्धी आलोचना में नहीं कहा गया। 'उपन्यास पढ़ते हुए मन इस प्रवंचना में नहीं पड़ने पाता कि यह कोई यथार्थ जीवन का चित्र है। उसकी औपन्यासिकता मन से दूर नहीं होती। चरित्र सजीव न होकर छाया से मालूम होते हैं। सूर्य का तीव्र प्रकाश कहीं नहीं है, मद्धिम चाँदनी में सारे दृश्य दिखाई देते जान पड़ते हैं। अन्त खुद एक पहेली है। हम चरित्रों की झलक सी देखते हैं। उनका सम्पूर्ण रूप हमारे सामने नहीं आता; मगर शायद यह उनका अधखुलापन ही है, जो उन्हें हृदय के समीप पहुँचा देता है।' रोमांटिक प्रसाद यथार्थ के कितना निकट आ सकते थे, प्रेमचन्द ने इसे भली प्रकार समझा था; फिर भी उनके रोमांटिक सौन्दर्य को प्रेमचन्द ऐसी अच्छी तरह व्यक्त कर सके, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। मद्धिम चाँदनी के दृश्य कितनी सुन्दरता और पूर्णता से प्रसाद के कल्पना-जगत का वर्णन करते हैं और वे स्वयं प्रेमचन्द के जेठ बैसाख की लू में झुलसे दृश्यों से कितना भिन्न हैं, यह सोचकर उनकी उदारग्राहिका शक्ति का अनुमान किया जा सकता है।

उग्रजी के 'शराबी' की भी प्रेमचन्दजी ने प्रशंसा ही की है, यद्यपि उसकी भावुक यथार्थवादिता उनके वृत्त के बाहर की वस्तु थी। उसकी भाषा के प्रवाह और स्फूर्ति का उल्लेख कर उसके यथार्थवाद के लिए यही लिखा है कि रुचि या कुरुचि की पर्वाह न करते हुए वह अपने असली रूप में दिखाई देता है। नवीन लेखकों में वह सर्वश्री जैनेन्द्र, अज्ञेय, भुवनेश्वर प्रसाद प्रभृति लेखकों का स्वागत करनेवालों में थे;

इनकी ऊँचे शब्दों में उन्होंने प्रशंसा की थी, फिर भी इनकी कमज़ोरियाँ उनसे छिपी न थीं। श्री अज्ञेय की भावुकता के लिए लिखा था, 'काश, अज्ञेयजी कल्पना-लोक से उतर कर यथार्थ के संसार में आते।' श्रीभुवनेश्वर प्रसाद की प्रगतिशीलता के लिए उन्होंने 'विधवाओं का तेज और कसक और विद्रोह' लिखा था तथा उनके अस्वस्थ आत्म-चिंतन को लक्ष्य कर लिखा था, 'उन्हें अपने आप में डूबे रहने और अपनी कटुताओं से सरल जीवन को कटु बनाने का वह मरज़ है, जो अगर एक ओर साहित्य की जान है, तो दूसरी ओर उसकी मौत भी है।' प्रगतिशील लेखकों का भी उन्होंने स्वागत किया था लेकिन 'प्रगतिशील' नाम की तथ्यहीनता का उल्लेख उन्होंने प्रगतिशील लेखक सम्मेलन में ही किया था। प्रगतिशील लेखक संघ नाम गलत है, बताते हुए उन्होंने कहा था, 'साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है; अगर यह उसका स्वभाव न होता तो शायद वह साहित्यकार ही न होता।' प्रगतिशील लेखक साहित्य में कुछ ऐसा न करने जा रहे थे जो नितांत नवीन हो और पूर्व साहित्य उससे अपरिचित हो। केवल नाम का बिल्ला लगाने से कोई प्रगतिशील या अन्य रूप से महान् साहित्यिक नहीं हो जाता; प्रेमचन्द के लिए साहित्य का ही अर्थ प्रगति था। ऊपर दिये गये थोड़े से उद्धरणों से भी प्रेमचन्द की उदारता और सूक्ष्म विवेचन-बुद्धि स्पष्ट समझ में आ जायगी।